राजा पितासम हैं और मैं भी पिताके ही वाक्यपर आरूढ़ हूँ; चाहे उसे रखिये, चाहे छुड़ाइये। (घ) *'राउरि सपथ सही सिर सोई'* की जोड़का चरण *'माथे मानि करउँ सिख सोई।'* (२५८। ४) है।

टिप्पणी—३ *'राम सपथ सुनि''''''सकुचे सभा समेत'* इति। 'सकुच' इससे कि जिस धर्मपर आरूढ़ हैं उसे कैसे छुड़ावें और न छुड़ावें, लौटनेको न कहें, तो लोग कहेंगे कि यहाँ आये ही किसलिये थे। श्रीरामजीके बोलनेपर सबकी सरस्वती बंद हो गयी, सब भरतका मुँह ताक रहे हैं, जवाब नहीं सूझता, यह सोच रहे हैं कि भरतजी ही इसका उत्तर दें।

वि० त्रि०—*'राम सपथ''''''''सभा समेत'* इति। यहाँ धर्मकी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनेके लिये कोई तैयार नहीं है। रामजी शपथ लेकर कहते हैं कि गुरुजी और जनकजी जो आज्ञा दें मैं करनेको तैयार हूँ, यदि कहें कि तुम लौट चलो तो मैं परमधर्म गुरु-आज्ञाका पालन करूँगा। यथा—*'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥'* पर गुरुजी या जनकजी कोई भी यह कहनेको तैयार नहीं कि 'तुम घर लौट चलो'। गुरु होकर शिष्यको धर्मसे विचलित होनेको कैसे कहें? अतः सभासमेत गुरुजी और जनकजी संकुचित हो गये कि जब यही गति है तो लौट चलनेका प्रश्न क्यों उठाया गया।

प० प० प्र०—*'सकल बिलोकत भरतमुख'* इति। मिलान कीजिये—*'मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा।'* (६। १०१। २) दोनों जगह स्वामी ही सेवकका मुख ताकते हैं पर दोनोंके हेतु अलग-अलग हैं। श्रीरामजी तो सर्वज्ञ होकर भी नरनाट्य कर रहे हैं और *'संतत दासन्ह देहु बड़ाई'* महर्षि अगस्त्यके इन वचनोंको चरितार्थ करते हैं। और, यहाँ तो गुरु वसिष्ठजी, श्रीजनकजी आदि किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गये हैं, प्रत्येक बड़ा व्यक्ति अपने सिरका भार दूसरेके सिरपर रखनेका प्रयत्न कर रहा है। पूर्व भी ऐसा ही हुआ था तब श्रीभरतजीने कहा है कि, *'देव दीन्ह सब मोहिं अभारू। मोरे नीति न धरम बिचारू॥'*—(२६९। ३) देखिये।

मा० म०—सकुचकर सबका आह्लाद जाता रहा, कोई न बोला। क्योंकि बोलनेसे ये सातों बातें नष्ट होती हैं अर्थात् फिर जानेको कहें तो (१) वन भेजना (कैकेयीका वर), २ अनुराग (सबकी प्रीति), ३ भरतके हृदयकी बात (वनयात्रा), ४ राजा दशरथकी आज्ञा, ५ वेदमत (भगवान् अवतीर्ण होकर भूभार उतारेंगे), ६ श्रीरामजीका संकल्प (भूभारहरणार्थ) और ७ पृथ्वी और देवताओंकी चाह—ये सब नष्ट हो जायँगे।

सभा सकुच बस भरत निहारी। रामबंधु धरि धीरजु भारी॥ १॥
कुसमउ देखि सनेहु सँभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥ २॥
सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल गुनगन जग जोनी॥ ३॥
भरतबिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला॥ ४॥

शब्दार्थ—'निवारना'=निवारण करना, रोकना, मना करना, यथा—*'सैनहिं लखनहिं राम निवारे'।* '**घटज**'=घटसे जायमान या उत्पन्न, कुम्भज ऋषि अगस्त्यजी। बिंधि=विन्ध्याचल। पुराणानुसार यह सात कुलपर्वतोंमें है। इसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ हैं। आर्यावर्तके दक्षिण सीमापर यह पर्वत है। पूर्व और पश्चिमीघाट इसीकी शाखाएँ हैं। विशेष १३८ (८) में देखिये। '**कनकलोचन**'—हिरण्याक्षके शब्दोंको बदलकर यह नाम गढ़ा गया है। हिरण्य=स्वर्ण=कनक; अक्षि=लोचन। इसीका हाटकलोचन भी नाम गढ़ा है। इसी तरह बहुत-से नाम कविने गढ़े हैं। जैसे—सुग्रीवका सुकण्ठ, कुम्भकर्णका घटकरन, मेघनादका वारिनाद, कुम्भजका घटज इत्यादि। जोनी=उत्पन्न करनेवाला, योनि, उत्पादक कारण, उत्पत्तिस्थान। 'उधारना'=उद्धार करना, मुक्त करना, छुटकारा देना। यथा—*'छीरसमुद्र मध्य तें यों कहि दीरघ बचन उचारा हो। उधरौं धरनि असुरकुल मारौं धरि नरतन अवतारा हो'*— (सूर)। 'जग जोनी'=जगत्‌के रचयिता, ब्रह्माजी।

अर्थ—सभाको संकोचके वश देखकर रामबन्धु श्रीभरतजीने बड़ा धैर्य धारण किया॥ १॥ कुसमय समझकर (अपने बढ़ते हुए) प्रेमको सँभाला, जैसे बढ़ते हुए विन्ध्याचलको अगस्त्यजीने रोका॥ २॥ शोकरूपी हिरण्याक्षने

(सभाकी) बुद्धिरूपिणी पृथ्वीको हर लिया, उसी समय निर्मल गुणसमूहवाले भरतरूपी ब्रह्मासे विवेकरूपी विशाल वराह (भगवान्) ने प्रकट होकर बिना परिश्रमके उसका उद्धार किया। अर्थात् शोकके कारण सभाकी बुद्धि कुछ कामकी न रह गयी थी, भरतजीके विवेकमय वचनोंद्वारा वह शोक नष्ट हुआ और उनकी बुद्धि फिर ज्यों-की-त्यों पूर्व-अवस्थापर आ गयी॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ *'सभा सकुच बस'''''* इति। (क) ऊपर दोहेमें कहा था—*'सकुचे सभा समेत, सकल बिलोकत'''''* उसीकी जोड़में *'सभा सकुच'''''* कहा। (ख) 'धीरज' धारण करनेके सम्बन्धसे 'रामबंधु' कहा। श्रीरामजी धीरधुरन्धर हैं, ये उनके भाई हैं, अतः ये भी परम धैर्यवान् हैं। भाईका गुण भाईमें होना योग्य ही है। पुनः, राम बन्धु हैं इसीसे इनकी सरस्वती खुली है, जिसका जैसा अधिकार है वैसा ही उसका सामर्थ्य है (कारणके समान कार्यका होना 'द्वितीय सम' अलङ्कार है)। (ग) स्नेह और शोकसे भरतजी अधीर चले आ रहे हैं, इसीसे श्रीजनकभरतगोष्ठीमें भी *'बोले भरत धीर धरि भारी'* और यहाँ भी धीरज धरना कहा।

टिप्पणी—२ *'कुसमउ देखि सनेहु सँभारा। बढ़त बिंधि'''''* इति। विन्ध्याचल सूर्यकी गति रोकनेके लिये बेहद बढ़ता गया। देवता आदि सभी भयभीत हो गये थे। तब अगस्त्यजीने उसकी गति रोकी थी—पूरी कथा *'बिंधि मुदित मन सुखु न समाई।'* (१३८। ८) में देखिये। यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है। भरतजीका स्नेह विन्ध्याचल है, भरतजीका उसको दबाना अगस्त्यजीका विन्ध्याचलकी बाढ़को रोकना है। भरत और अगस्त्य उपमेय-उपमान हैं।

वै०—विन्ध्याचलने सूर्यकी गति रोकी, अगस्त्यजीने उसको रोका। वैसे ही भरतजीने अपने बढ़े हुए सर्वाङ्ग-परिपूर्ण प्रेमको रामप्रतापरूपी सूर्यका अवरोधक जानकर, उसे अन्तःकरणमें गुप्त कर लिया।—(रामप्रतापका अवरोधक कहनेका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि स्नेहकी विह्वलतामें प्रतापका वर्णन नहीं किया जा सकता।)

खर्रा—जैसे विन्ध्याचलने बढ़कर सूर्य आदि सबको दबा लिया, किसीको राह न मिलती थी वैसे ही भरतजीके स्नेहने सबको दबा लिया, पर भरतजीने उसको सँभाला। भरत अगस्त्य, स्नेह विन्ध्याचल और रामजीकी आज्ञा सूर्य। स्नेहके सँभालनेसे आज्ञा प्रकट होगी, रामजीके आज्ञा देनेकी राह खुलेगी।

नोट—१ *'सोक कनकलोचन मति छोनी'* इति। बा० १२२ (७) *'धरि बराह बपु एक निपाता'* में यह कथा सविस्तार दी गयी है। हिरण्याक्ष पृथ्वीका हरण करके उसे रसातलमें ले गया। जिससे सृष्टिकी उत्पत्तिका सब कार्य बन्द हो गया था। ब्रह्माजी चिन्तित हो ध्यानमें मग्न हुए, उसी समय उनकी नासिकासे वराहभगवान् प्रकट हुए, जिन्होंने हिरण्याक्षको मारकर पृथ्वीका उद्धार किया। उसीका यहाँ रूपक बाँधा गया है।

शोक ही बुद्धिको हर लेता है, यथा—*'सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ग्यान न धीरज लाजा॥'* (२७६। ७) अतः शोकपर हिरण्याक्षका आरोप किया गया और बुद्धिपर पृथ्वीका। भरतविवेकपर विशाल वराहभगवान्का आरोप हुआ। वराहभगवान्ने बिना श्रम पृथ्वीका उद्धार किया, वैसे ही भरतविवेकने सबका शोक दूरकर सबकी बुद्धिको स्थिर कर दिया।

नोट—२ *'बिमल गुनगन जग जोनी'* इति। श्रीसन्तसिंह, पंजाबीजी, श्रीनंगे परमहंसजी, पं० विजयानन्दजी त्रिपाठीजी तथा श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी इसे *'छोनी'* का विशेषण मानते हैं। भाव कि जिस भाँति जगत्की योनि (उत्पन्न करनेवाली) पृथ्वी है (पृथ्वीसे ही सारे जगत्की उत्पत्ति है, संसारके अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति पृथ्वीसे होती है) उसी भाँति विमल गुणगणरूपी जगकी योनि बुद्धिरूपिणी पृथ्वीको शोकरूपी हिरण्याक्षने हर लिया।

श्रीपाँड़ेजीने 'विमल गुणगणयुक्त मतिरूपी छोनीको शोकरूपी हिरण्याक्षने हर लिया। तब जगयोनि अर्थात् ब्रह्मारूपी भरतसे विवेकरूपी विशाल वराहने प्रकट होकर''''' ऐसा अर्थ किया है।

वीरकविजीने 'विमल गुणगण' का 'जगजोनी'से रूपक अर्थात् ब्रह्मासे रूपक माना है। वे लिखते हैं कि 'शोकपर हिरण्याक्षका आरोप, मतिपर पृथ्वीका, निर्मल गुणोंपर ब्रह्माका, भरतजीके ज्ञानपर वराहका

आरोपण किया गया है। एक भी रूपककी न्यूनता होनेसे इस पौराणिक इतिहासका पूरा रूपक सिद्ध न होता। यहाँ 'परंपरितरूपक अलंकार' है। पौराणिक कथाका साङ्गरूपक यहाँ बाँधा गया है।'

मयंककारने साङ्गरूपकमें समुद्रका रूपक भी दिया है। 'शपथ सिन्धु है, शोच उसका जल है। शोकरूपी हिरण्याक्षने शपथरूपी सिंधुके शोच-जलमें बुद्धिको डुबा दिया था। भरतके विवेकने प्रकट होकर उसे बचाया।'

नारदरामायणमें इस रूपकसे मिलता हुआ श्लोक यह कहा जाता है—'**शोकः सुवर्णनयनः पृथ्वीं बुद्धिं जहार ह। भरतो गुणवान् ब्रह्मा तस्माद्विज्ञानशूकरः॥ आविर्भूय हिरण्याक्षं शोकरूपं निहत्य च। उद्दधाराश्रमेणैव बुद्धिरूपां वसुन्धराम्॥**' र० ब० ने यह श्लोक दिया है। यदि यह श्लोक उसमें हो तो इस प्रमाणसे 'विमल गुणगण' ब्रह्माके विशेषण हुए न कि 'छोनी' के।

पु० रा० कु०—'अनायास' और 'तत्काल' का भाव यह कि वहाँ दस हजार वर्षतक भारी युद्ध होनेपर उद्धार हुआ। और यहाँ कुछ भी श्रम न हुआ। वराहसे हिरण्याक्षका विनाश है तथा विवेकसे शोकका, यथा—'***सोक निबारेउ सबहि कर निज बिग्यान प्रकास***'। 'उधरी' अर्थात् शोकसे छूटी, मति विवेकयुक्त हुई।

नोट—शोक किसका और बुद्धि किसकी? इसपर मतभेद है।

पंजाबीजीने श्रीभरतजीकी बुद्धिको क्षोणी माना है। वे इस चौपाईका भाव यह लिखते हैं कि 'बुद्धि वचन-रचनाको सावधान हुई'। पाँड़ेजी तथा रा० प्र० ने इसको स्पष्ट नहीं किया है। बैजनाथजीने श्रीभरतजीकी मतिको पृथ्वी माना है। वे लिखते हैं कि—त्याग, वैराग्य, धैर्य, शान्ति, सन्तोष, क्षमा, दया, उदारतादि विमल गुणगणमय भरतजीकी मतिरूपिणी पृथ्वीको शोक (अयश तथा वियोगजनित दुःख) रूपी हिरण्याक्षने हर लिया था। उसके उद्धारके लिये जगयोनि (जगको उत्पन्न करनेवाले ब्रह्मा) रूपी भरत (जो जगत्‌का भरण-पोषण करनेवाले हैं) के विवेकरूपी वराहने प्रकट होकर शोकहिरण्याक्षका नाशकर बुद्धिरूपी पृथ्वीका उद्धार किया।

पं० श्रीकान्तशरणजीने बैजनाथजीके भावको इस प्रकार लिखा है कि भूमिकी तरह इनकी बुद्धि बड़ी उपजाऊ है; पर सहसा उठे हुए शोकने उसे क्षणभरके लिये विक्षिप्त कर दिया, जैसे हिरण्याक्षके पाप-प्रभावसे पृथ्वीकी उपज मारी गयी। पर इन्होंने विवेकद्वारा उक्त शोकका निवारण किया और धैर्य धारण करनेपर उनकी बुद्धिमें निर्मल गुणगण फिर आ गये। तब उस भरत-भारतीकी आगे प्रशंसा की गयी है।

पु० रा० कु०—का मत है कि भरतकी मति नहीं हरी गयी। उनकी बुद्धि तो ऐसी है कि '***मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी***'। गुरु दङ्ग रह गये। जनकजी ऐसे विज्ञानी जिसकी छाँहतक छू नहीं सकते—'***सो मति मोरि भरत महिमा ही। कहइ काह छल छुअत न छाहीं॥***' और जिसे देख '***कहत सारदउ कर मति हीचे***' एवं जहाँ विधिहरिहर आदिकी मायाका भी गुजर नहीं। तब इसको कौन हरण कर सकता है? इसीसे भरत-भारतीको मञ्जु मराली आगे कहा है। अतः यहाँ सब समाजकी मतिका शोकसे हरण होना ही ठीक है।

बाबा हरीदास, वीरकवि, लाला भगवानदीनजी, वि० त्रि०, पोद्दारजी, नं० प०, प० प० प्र० का भी यही मत है।

बाबा हरीदासजी और मानसी वन्दनपाठकजी कहते हैं कि यहाँ सब रूपक अरूपका ही बाँधा गया है। शोक अरूप, मति अरूप भरतजीके निर्मल गुणगण ही ब्रह्मा हैं। क्योंकि गुणगण भी अरूप हैं, और विवेक भी अरूप है।

नोट—पहले अपने स्नेहको रोकना कहा। फिर दो अर्धालियोंमें दूसरोंके शोकको नष्ट करके उनकी बुद्धिको स्थिर करना कहा।

करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुर साधु निहोरे॥ ५॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥ ६॥
हियँ सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥ ७॥

बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥ ८॥

दो०—निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेह समाजु।
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु॥ २९७॥

शब्दार्थ—**निहोरे**=विनती की। **साली** (शालि)=परिपूर्ण, युक्त, वाली, समन्वित। जैसे सम्पत्तिशाली=धनवान्, सम्पत्तिवाला। भारती (सं०)=वाणी, सरस्वती, यथा—*'मति भारति पंगु भई जो निहारि बिचारि फिरी उपमा न पवै'।*

अर्थ—(उन्होंने) प्रणाम करके सबके हाथ जोड़े, और श्रीरामचन्द्रजी, राजा, गुरुजी और साधुसमाजसे विनय की॥ ५॥ श्रीभरतने कहा कि आज मेरे इस अत्यन्त अनुचित व्यवहारको क्षमा कीजियेगा, कोमल मुखसे कठोर वचन कह रहा हूँ॥ ६॥ फिर भरतने हृदयमें सुन्दरी सरस्वतीका स्मरण किया, वह सुन्दर मानससे मुखारविन्दपर आ गयी॥ ७॥ निर्मल ज्ञान, धर्म और नीतिसे परिपूर्ण भरतकी सुन्दर वाणी हंसिनी है॥ ८॥ विवेकरूपी नेत्रोंसे समाजको प्रेमसे शिथिल देख, सबको प्रणाम कर श्रीभरतजी श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजीका स्मरण करके बोले॥ २९७॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *'करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे।'''''* इति। (क) यह बड़ोंकी सभामें बोलनेकी रीति है। क्या निहोरा किया यह आगे लिखते हैं—*'छमब आजु'''''*। (ख) *'छमब आजु अति अनुचित मोरा।'''''* इसके जोड़की अर्धाली पूर्व ही गोष्ठीमें कही है—*'छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥'* दोनोंका मिलान कीजिये। *'बदन मृदु'* से जनाया कि मैं बालक हूँ, बालकका मुख कोमल होता ही है। बड़ोंसे जहाँ जवाब न बन पड़ा वहाँ लड़केका बोलना महान् अयोग्य है इसीसे क्षमा चाहते हैं।

टिप्पणी—२ *'हियँ सुमिरी सारदा सुहाई।'''* इति। भरतजीकी शारदा सुहायी अर्थात् दिव्य है। त्रिदेवद्वारा भी यह शारदा वन्दित है। यह भरतजीके हृदयसरसे उत्पन्न हुई है। यह वह शारदा नहीं है जो विधिलोकसे आती है, वह तो भरतकी मतिका पता भी नहीं पाती, यथा—*'कहत सारदउ कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥'* भरतकी मतिकी ओर विधिहरिहरकी विशाल माया दृष्टि भी नहीं डाल सकती। तब वह सरस्वती इनकी मतिको क्या जाने? भरत राम ही हैं, 'भरत राम ही की अनुहारी' हैं, वा उनका प्रतिबिम्ब हैं। (पं०—भगवद्यश कथन करेगी अतः सुहाई कहा।)

बै०—*'सारदा सुहाई'* अर्थात् सुन्दर अमल और रामतत्त्वनिरूपिणी परावाणी जिसका नाभिकमलमें स्थान है मानससे मुख-पंकजपर आयी अर्थात् परावाणीने वैखरीको आकर प्रकाशित किया। तात्पर्य यह कि जो मनमें पूर्व निश्चय कर चुके हैं, यथा—*'करि बिचार मन दीन्ही ठीका। राम रजायसु आपुन नीका॥'* वही प्रकट करनेका अनुसंधान किया। [बैजनाथजीका भाव सुसङ्गत है पर उन्होंने नाभिकमलको मानस समझनेका आधार नहीं दिया। यह आधार मानसमें ही है। यथा—*'सायक एक नाभि सर सोखा।'* (६। १०३। १) स्वामीसमर्थ रामदासजीने 'दासबोध' में नाभिस्थानी परावाचा' कहा है। परावाचा गुणतीत है। अतः *'सारदा सुहाई'* कहा। ब्रह्मलोककी शारदा *'बिमल बिबेक धर्म नयसाली'* नहीं है, वह तो अधर्म और अनीति भी कर सकती है। और उसने किया भी है जिसका फल श्रीसीतारामवनवास, कैकेयीकी अकीर्ति और दशरथ-मृत्यु इत्यादि है। (प० प० प्र०)]

नोट—१ भरत-भारतीका रूपक सुन्दर राजहंसिनीसे बाँध रहे हैं। हंस मानसरोवरमें रहते हैं, कमलपर आकर बैठते हैं। इसीसे भरतजीके हृदयको मानस और मुखकी कमलसे उपमा दी। सरस्वती पद्मासना हैं क्योंकि ब्रह्माका नाम पद्मासन भी है। पद्मासना होनेसे मुखकी कमलसे उपमा देना यथार्थ ही है। हंस मोती चुगता है, यथा—*'जस तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु। मुकुताहल गुनगन चुनइ'''''॥'* (१२८) भरत-भारती-मराली ज्ञान-धर्म-नय विमल गुण-गणरूपी मुक्तामणियोंको चुगनेवाली है।

नोट—२ *'बिमल बिबेक धरम नय साली।''''* इति। मराली कहनेका एक कारण ऊपर दिया; दूसरा यह कि यह क्षीर-नीर-विवरणका समय है। भरतकी वाणी अपने विवेकसे क्षीरनीरको पृथक् करेगी—*'छीर नीर बिबरन गति हंसी'*; वह गुणदोषका, सारासारका निर्णय करेगी, जो काम मुनि और जनकजी न कर सके थे वह करेगी (मा० म०, शिला)। वा, केवल रामतत्त्व ग्रहण करेगी इससे मराली कहा—(वै०)।

स्मरण रहे कि पूर्व भरतजीको हंसकी उपमा दे चुके हैं, यथा—*'भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥'* और यहाँ उनकी भारतीको विवेक धर्म नयशाली हंसिनीकी उपमा दी है।* (ख) *'बिमल'* पदसे जनाया कि ज्ञान, धर्म और नय समल भी होते हैं पर यह भारती विशुद्ध ज्ञान आदिसे सम्पन्न है। जो वचन निकलेंगे वे इनसे परिपूर्ण होंगे, स्वार्थरहित परमार्थ देश तथा धर्म और नीतियुक्त होंगे। इनसे धर्म और नीति दोनोंका निर्वाह होगा। सबके धर्मकी रक्षा और सबका हित होगा।

नोट—३ *'निरखि बिबेक बिलोचनन्हि''''* इति। (क) सब स्नेहसे शिथिल हैं। स्नेह बाहरी नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता क्योंकि मानसिक है, इसीलिये 'विवेक-नेत्र' से देखना कहा। (पं०, रा० प्र०) (ख) विवेकनेत्रसे देखा अर्थात् माधुर्यरहित केवल ऐश्वर्यपर दृष्टि रखते हुए देखा। जनक आदिकी दृष्टि माधुर्यपर है इसीसे वे प्रेमसे विह्वल हैं यह विचारकर ऐश्वर्यपर दृष्टि रखी। (वै०) (ग) यहाँ 'विवेक' से 'विमल विवेक' अभिप्रेत है विवेकको नेत्र कहा ही है, यथा—*'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन।'* और, विमल विवेक=निर्मल ज्ञान। निर्मल ज्ञान होनेपर ही मनुष्य रामभक्तिमय होता है। यथा—*'बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'* श्रीभरतजी श्रीरामभक्तिमय हैं ही। (प० प० प्र०)

नोट—४ *'सुमिरि सीय रघुराज'*— यह भरतजीका मङ्गलाचरण है। (पु० रा० कु०) 'रघुराज' शब्द देकर जनाया कि वे ऐसे ही वचन कहेंगे जिनसे श्रीरामजी ही रघुराज होंगे। (प० प० प्र०)

प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी॥ १॥
सरल सुसाहिबु सीलनिधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥ २॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहक अवगुन-अघ-हारी॥ ३॥
स्वामि गोसाइँहि सरिस गोसाँई। मोहि समान मैं साइँ दोहाई॥ ४॥

शब्दार्थ—**गाहक**=ग्रहण करनेवाले, चाहनेवाला, इच्छुक। यह शब्द 'ग्राहक' का अपभ्रंश है। अथवा, अवगाहन (या गाहन) से बना हुआ ले सकते हैं—*'कह कपि तव गुनगाहकताई। सत्य पवनसुत मोहिं सुनाई',*—(लं०)। शील तथा—**हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः**' (भगवद्गुणदर्पण। बै०)

अर्थ—हे प्रभु! आप मेरे पिता, माता, सुहृद् (मित्र), गुरु, स्वामी, पूज्य, परम हितैषी और हृदयकी जाननेवाले हैं॥ १॥ सरल, सुसाहिब, शीलके समुद्र, शरणागतपालक, सर्वज्ञ, सुजान॥ २॥ समर्थ, शरणागतका हित करनेवाले, गुणोंको ग्रहण करनेवाले, अवगुणों और पापोंके हरनेवाले हैं॥ ३॥ हे स्वामी! (उत्तमतामें) गोसाईं (अर्थात् आप) के समान गोसाईं (आप) ही हैं और स्वामीकी दोहाई (कसम) (अधमता और स्वामिद्रोहतामें) मेरे समान मैं ही हूँ॥ ४॥

नोट—१ *'प्रभु पितु मातु''''* इति। यहाँ तीन अर्धालियोंमें बीस विशेषण दिये हैं। इनके भाव क्रमशः लिखे जाते हैं। (क) 'प्रभु' सम्बोधन है पर सामर्थ्यवाचक भी है। भाव कि आप जो चाहें उसे कर सकते हैं, असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं, अघटित घटनाको भी घटित कर सकते हैं—**'अघटितघटना-पटीयान्।'** इससे जनाया कि आप पिताके, गुरु वसिष्ठजीके तथा श्रीजनक महाराज तीनोंके वचनोंका

---

* मयङ्ककार लिखते हैं कि शाली स्थान या घरको कहते हैं। यहाँ भारती स्त्रीलिङ्ग है इसीसे शाली और मराली स्त्रीलिङ्ग शब्द दिये गये। पँड़ीजी शालीका अर्थ सुशोभित करते हैं। बैजनाथजीने शालीका अर्थ मन्दिर लिखा है।

एक साथ पालन कर सकते हैं। *'पितु मातु'*—भाव कि भरण-पोषण, रक्षण और धारण करनेमें माता-पितारूप हैं। पिता-माताके समान हमारा दुलार भी रखनेवाले हैं। *'सुहृद'*—अर्थात् मित्र हैं, मित्रके समान प्रतीतिवाले हैं, यथा—*'सुतकी प्रीति प्रतीति मीत की।'* (विनय०) अपना करके मानते हैं एवं उपकारी हैं। *'गुर'*—अर्थात् शिक्षा या उपदेश करनेमें गुरुरूप हैं। आप जगद्गुरु हैं, यथा—**'जगद्गुरुं च शाश्वतं।'** (३। ४) वेद आदि सब आपके ही वाक्य हैं। *'स्वामी'* अर्थात् सबके मालिक हैं, सबके नियन्ता हैं। यथा—*'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥'* (१। ११९) *'पूज्य'*—अर्थात् देवादि सभीसे वन्दनीय और सबके इष्ट हैं। यथा—*'सिव अज पूज्य चरन रघुराई।'* (७। १२४) *'बिधि हरिहर बंदित पद-रेनू।'* (१। १४६। १) *'परम हित'*—अर्थात् स्वार्थरहित सबका हित करनेवाले हैं, लोक और परलोक दोनोंके बनानेवाले हैं। मिलान कीजिये—*'स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं॥' 'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* (७। ४७) *'अन्तरजामी'*—अर्थात् सबके हृदयके भाव-कुभाव, सबकी लालसाएँ इत्यादि सब कुछ जानते हैं। (ख) *'सरल'*—अर्थात् इतने बड़े होकर भी सबको सुलभ हैं। ऐसे सुलभ कि केवटसे उठकर मिले, यथा—*'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंटेउ केवट उठि॥'* (वि० १३५) फिर कैसे सुलभ कि श्वानकी भी सुनी। श्वान और संन्यासीका न्याय किया। *'सुसाहिबु'*—भाव कि प्राकृत स्वामी सेवकका अपराध सुनकर ही उसपर रुष्ट हो जाते हैं—*'साहिब होत सरोष सेवकको अपराध सुनि। अपने देखे दोष राम न सपनेहु उर धरेउ।'* आप सेवकका अपराध देखकर भी ध्यान नहीं देते। *'सीलनिधान'*—अर्थात् सौशील्यगुणसे पूर्ण। कैसा भी कोई हीन दीन मलिन शरणमें आ जाय तो उसको मान और बड़ाई देते हैं। *'प्रनतपाल'*—प्रणाम मात्र करनेवालेका पालन करनेवाले हैं। यथा—*'कहेसि पुकारि प्रनत हित पाही।', 'प्रनत कुटुम्ब पाल रघुराई।' 'कूर कुटिल खल कुमति कलंकी।'''''सकृत प्रनाम किए अपनाए।', 'नमित पद रावनानुज नेवाजा'* (वि० ४३), *'अधम आरत दीन पतित पातकपीन सकृत नत मात्र कह पाहि पाता।'* (वि० ४४) *'सर्बग्य'*—सब कुछ सदा सब कालमें जाननेवाले। [वा, विश्वभरके नाम, रूप, गुण और ज्ञानको स्वाभाविक जाननेवाले यथा—**'स्वस्वाश्रयस्वहेतूनां स्वातन्त्रे सा प्रकाशकम्। ज्ञानं तदव्यवहारादि विभाजकतया स्थितम्॥'** (वै०)] *'सुजान'*—अर्थात् चातुर्यगुणपूर्ण हैं, सब विद्या, सबकी भाषा एवं बोली आदि जानते हैं; सबकी वाणी, सबकी भक्ति, प्रीति, गति आदि जानते हैं अतः सबका उचित सम्मान करते हैं। यथा—*'सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥ यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ॥'* (१। २८) पुनः 'सुजान' स्वभावके ज्ञाता और 'सर्वज्ञ' से स्वरूपके ज्ञाता जनाये। (ग) **'समर्थ'**—उपर्युक्त सब गुण हों पर सामर्थ्य न हो तो ये सब गुण व्यर्थ हैं, अतः कहा कि 'समर्थ हैं' तिनकेको पर्वत और पर्वतको तृण बना देनेतकको समर्थ हैं। यथा—**कर्तुं विकर्तुं जगदन्यथा च कर्तुं हि सामर्थ्यविशेषरूपा। शक्तिस्तु यस्यास्ति स सर्वशक्तिप्राणाधिकाया बहुकेलिरण्यः॥'** (वै०), *'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करहीं', 'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करइ चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि भजहिं जीव ते धन्य॥'* (७। ११९), *'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।'* (७।१२२)

☞स्वामी, सुशील, सुजान और समर्थपर मिलान कीजिये—*'तेरे बेसाहे बेसाहत औरनि और बेसाहि, के बेचनिहारे। ब्योम रसातल भूमि भरे नृप कूर कुसाहिब सेंतिहुँ खारे। तुलसी तेहि सेवत कौन मरै, रज तें लघु को करैं मेरु तें भारे। स्वामि सुसील समत्थ सुजान सो तो सों तुही दसरत्थ दुलारे।'* (क० उ० १२)

(घ) *'सरनागत हितकारी'*—शरणमें आये हुएका भला करते हैं यथा—*'सरन सुखद रघुबीर'* (सु०) सुग्रीव, विभीषणादिका भला किया। *'गुनगाहक'*—अर्थात् गुणको ही लेते हैं, अवगुणपर दृष्टि नहीं डालते। यथा—*'बैर भाव सुमिरत मोहि निसिचर।' 'अवगुन अघहारी'*—अघ और अवगुणोंका नाश करनेवाले। यथा—*'सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'* (५। ४४। २) *'गुन गहि अघ औगुन हरै ऐसो करुनासिंधु।'* (वि० १०७)

नोट—२ भाषणका प्रारम्भ *'प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी।""'* से करके प्रारम्भमें ही भाषणका पूरा भाव सूचित कर दिया है कि मैं आपका आज्ञाकारी हूँ, कुछ कहूँगा नहीं, जो आदेश आप देंगे उसे किञ्चित् भी विचार न करके शिरोधार्य करूँगा। यही शिवजीका सिद्धान्त है, यथा—*'मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहि बिचार करिय सुभ जानी॥ सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥'* (१। ७७) और आपका भी यही आदेश है। यथा—*'सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि। सो पछताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥'* (६३) और मैं भी यह जानता हूँ कि *'गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥ उचित कि अनुचित कियें बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥'* (१७७। ३-४) मेरे प्रभु, माता, पिता, गुरु, सुहृद् और स्वामी सब आप ही हैं, दूसरा नहीं। अतः जो आज्ञा दें वह मैं करूँ। नृ० पु० रामायण खण्डमें भी यही भाव है-**'यथा पिता तथा त्वं तु नात्र कार्या विचारणा। त्वदादेशो मया कार्यो देहि (त्वं पादुके मम)॥'** (२।१६२)

नोट—३ *'साइँ दोहाई'* का अर्थ साईंका द्रोही भी किया जाता है। पांडेजी, दीनजी, वीरजीने यही और पु० रा० कु० ने दोनों अर्थ लिये हैं। पहले चरणमें गोसाईंके सदृश गोसाईं कहा वैसे ही यहाँ मेरे समान मैं कहा। सत्यताके लिये शपथ करके कहते हैं। अथवा यों अर्थ कर लें 'गोसाईं सरीखे स्वामी गोसाईं ही हैं और मेरे समान स्वामिद्रोही मैं ही हूँ।' तो 'द्रोही' अर्थ भी घट जाता है।

बैजनाथ, रा० प्र०, आदिने 'सौगन्द' 'शपथ' अर्थ किया है। और वीरकविजी कहते हैं कि यहाँ सौगन्दका प्रयोजन नहीं। केवल अनन्वय अलंकार है। मेरी समझमें *'साइँ दोहाई'* के दोनों ही अर्थ यहाँ ले लिये जावें तो अति उत्तम है। पं० रामकुमारजीने दोनों ही अर्थ लिये हैं। इसी प्रकार आगे कसम खायी है, यथा—*'सो गुसाँइ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी'* (२९९) और विनयमें भी कहा है—*'बड़ो साईं द्रोही""नाथकी सपथ किये कहत करोरि हौं।'* (वि० २५८)

पु० रा० कु०—(१) यहाँ बीस विशेषण देकर तब कहा कि *'स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाईं।'* भाव यह कि ये सब विशेषण उपमारहित हैं। इनके लिये कोई दूसरी उपमा नहीं है। इन सबमें आपके समान आप ही हैं। पुनः, भाव यह कि बीसों बिस्वा गुणनिधान आपके समान आप ही हैं और स्वामिद्रोहतामें मेरे समान मैं ही हूँ। इसका आशय यह है कि मेरे इस एक अवगुणकी तुलनामें आपके बीसों गुण तुलकर नहीं बराबर हो सकते, मेरा पल्ला भारी ही रहेगा, यथा—*'स्वामी की सेवकहितता सब कछु निज साइँ दोहाई। मैं मति तुला तौलि देखी भई मेरिहि दिसि गरुआई॥'* (वि० १७१) *'बड़ो साईं द्रोही न बराबरी मेरी को कोउ नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं।'* (वि० २५८) आगे स्वामिद्रोहता दिखाते हैं।

वै०—*'प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी॥'* इन विशेषणोंसे प्रभुमें अपना अनन्य भाव दिखाया।* आगे प्रभुके गुण कहते हैं। सरलसे सौलभ्य, सुसाहिबसे क्षमा या कृतज्ञता, शीलनिधानसे सौशील्य, प्रणतपालसे उदारता (पात्र-कुपात्र कोई शरण आवे उसकी रक्षा करना), सुजानसे चातुर्य (सब विद्याओं, सबकी भाषा, सबके धर्म आदि जानना), समर्थसे सर्वशक्तिमान् और शरणागत हितकारी आदिसे वात्सल्य† गुणसे परिपूर्ण जनाया।

प्रभु पितु बचन मोहबस पेली। आयेउँ इहाँ समाजु सकेली॥ ५॥
जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिअँ अमरपद माहुरु मीचू॥ ६॥
राम रजाइ मेंट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥ ७॥
सो मईं सब बिधि कीन्ह ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥ ८॥

---

* 'या प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायिनी। रामे सीतापतावेव निधिवन्निहिता मुने' (शिवसंहिता)—(वै०)।
† 'आश्रितो दोषभोक्तृत्वं वात्सल्यमिति केचन'। 'दोषादर्शी गुणग्राही भावग्राही च राघवः'—(वै०)।

दो०—कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहुँ ओर॥ २९८॥

शब्दार्थ—सकेलना=एकत्र, इकट्ठा वा जमा करना, समेटना, बटोरना। मेटना=मिटाना, रेखा, चिह्न, दाग, निशान आदिको न रहने देना, उल्लंघन करना, न मानना।

अर्थ—प्रभु (आप) के और पिताके वचनको मोहवश उल्लंघन करके समाजको बटोरकर यहाँ आया॥ ५॥ संसारमें भले, बुरे, ऊँचे और नीचे, अमृत और अमरत्व, विष और मृत्यु (इत्यादि) किसीको भी कहीं नहीं देखा न सुना कि जो श्रीरामजीकी आज्ञाको मनसे ही टाल दे (कर्म वचन तो बहुत दूर रहे)॥ ६-७॥ सो मैंने सब प्रकारसे वही ढिठाई की। पर प्रभुने उस धृष्टताको स्नेह और सेवा मान ली॥ ८॥ हे नाथ! आपने अपनी कृपा और भलाईसे मेरा भला किया। जिससे मेरे दोष भूषणके समान हो गये और चारों ओर सुन्दर सुयश फैल गया॥ २९८॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—*'प्रभु पितु बचन'''''* 'इति। प्रभुके वचन वे हैं जो उन्होंने सुमन्त्र द्वारा संदेशरूपसे भरतजीके लिये कहे थे और जो उन्होंने राजासे कहे थे—*'कहब संदेसु भरत के आए। नीति न तजिअ राजपदु पाए॥ पालेहु प्रजहिं करम मन बानी।'* (१५२। ३-४) *'पितु बचन'* तो प्रथम मातासे ही सुना कि वर माँगनेपर उन्होंने वर दिया और कहा था कि *'सुदिन सोधि सबु साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥'* (३१। ८) *'प्रिया हास रिस परिहरहि माँगु बिचारि बिबेकु। जेहि देखौं अब नयन भरि भरत राज अभिषेकु॥'* (३२) प्रभुका संदेश वसिष्ठजीने सुनाया होगा। *'सुनि सुख लहब राम बैदेही।'* (१७५। ५) वसिष्ठजीके इन वचनोंसे भी यह आशय ध्वनित होता है। सम्भव है कि कैकेयीने भी सुनाया हो। (ख) *'मोह बस पेली'*—न पिताका वचन माना और न आपका। यह सब मोहवश किया। (ग) *'आयउँ इहाँ समाज सकेली'*—आपका धर्म छुड़ानेके लिये यहाँ आया। सब समाजको साथ लाया जिसमें गुरु, माता आदि गुरुजनोंका आपपर दबाव पड़े और आप लौट चलें। (घ) इस तरह जनाया कि अपना सेवक-स्वामिधर्म भङ्ग किया और पुत्रधर्म। पिताकी आज्ञा न माननेसे पुत्रधर्म गया, स्वामिवचन न माननेसे सेवकधर्म गया। मोहग्रस्त लोग ही ऐसा करते हैं! और अब स्वामीका धर्म भङ्ग कराने आया।

नोट—*'जग भल पोच''''''कोउ नाहीं'* इति। मिलान कीजिये वसिष्ठवाक्यसे *'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला'''''राम रजाइ सीस सब ही के।'* (२५४। ६-८) एवं बा० ६ (६) *'दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिय सजीवनु माहुर मीचू'* से। इसके अनुसार 'अमृत, विष और अमरत्व, मृत्यु' ऐसा अर्थ किया गया है। दूसरी प्रकार भी लोगोंने यों अर्थ किया है—'अमरत्व देनेवाले अमृत और मृत्युकारक विष'। वा, 'अमरत्व प्रदान करनेमें अमृतको और मृत्यु करानेमें विषको'। वीरकविजी लिखते हैं कि अमियको अमरपद और माहुरको मीचु इसमें पद और अर्थ दोनोंकी आवृत्ति होनेसे 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है। अमृत बिना आपकी इच्छाके जिला नहीं सकता और न विष मार सकता है, यह बात लंकाकाण्ड और बालकाण्डमें दिखायी है कि वृष्टि निशाचरोंपर भी हुई पर वे न जिये और कालकूट पीकर शिवजी अमर हुए।

टिप्पणी—२ *'मोहि समान मैं साइँ दोहाई'* जो पूर्व कहा था उसकी व्याख्या *'सो मैं सब बिधि कीन्ह ढिठाई'* तक है। अर्थात् यहाँतक अपने दोष गिनाये, स्वामिद्रोहिता दिखायी। *'मोहि समान'''* ' वाला सूत्र यहाँ पूरा किया। आगे, जो बीस गुण कहकर *'स्वामि गोसाइहिं सरिस गोसाईं'* कहा था उसका स्वरूप दिखाते हैं कि *'प्रभु मानी सनेह सेवकाई'*, मेरे आज्ञाभङ्ग-दोषको आपने सेवा और स्नेह माना अर्थात् दूषणको भूषण कर दिया। यही बात आगे दोहेमें कहते हैं।

टिप्पणी—३ *'कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर'''''* 'इति। श्रीरामकृपा-भलाईसे ही सबका भला होता है। इसपर विनयका यह पद है—*'राम भलाई आपनी भल कियो न काको। जुग जुग जानकिनाथको जग जागत साको॥ १॥ ब्रह्मादिक बिनती करी कहि दुख बसुधा को। रबिकुल-कैरवचंद भो आनंद सुधा*

को॥ २॥ कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया को। प्रभु अनहित हित को दियो फल कोप कृपा को॥ ३॥ हर्‌यो पाप आपु जाइकै संताप सिला को। सोच मगन काढ्यो सही साहिब मिथिला को॥ ४॥ रोषरासि भृगुपति धनी अहमिति ममता को। चितवत भाजन कर लियो उपसम समता को॥ ५॥ मुदित मानि आयसु चले बन मातु पिता को। धर्मधुरंधर धीरधुर गुनसील जिता को॥ ६॥ गुह गरीब गत ज्ञातिहुँ जेहि जिव न भखा को। पायो पावन प्रेम ते सनमान सखा को॥ ७॥ सदगति सबरी गीधकी सादर करता को। सोचसींव सुग्रीवको संकट हरता को॥ ८॥ राखि बिभीषन को सकै अस काल गहा को। आज बिराजत राज है दसकंठ जहाँ को॥ ९॥ बालिस बासी अवधके बूझिये न खाको। ते पाँवर पहुँचे तहाँ जहँ मुनि मन थाको॥ १०॥'''''—(वि० १५२) सुयश यह कि भरतजी बड़े प्रेमी हैं, साधु हैं, श्रीरामजीके लिये राज्यतकको त्याग दिया, इत्यादि।

राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥ १॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ २॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥ ३॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥ ४॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज* साज सबु साजी॥ ५॥
निज करतूति न समुझिअ सपने। सेवक सकुच सोचु उर अपने॥ ६॥
सो गोसाँइ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहौं पन रोपी॥ ७॥

शब्दार्थ—**बानि**=बान, स्वभाव, टेव। **निसील**=निश्शील, शीलरहित, बेमुरव्वत, बदमिजाज, बुरे स्वभाववाला। **निरीस**=जिसका ईश या स्वामी न हो, अनाथ। दूसरा अर्थ इसका यह भी है—जिसकी समझमें ईश्वर न हो, अनीश्वरवादी, नास्तिक। **निसंकी**=निश्शंक, निडर, बुरे काम करनेमें किसीकी शंका, भय या संकोच न करनेवाला। **सामुहें**=सामने, सम्मुख, शरण। **कोपी**=कोई, कोई भी-'*बिमुख राम त्राता नहिं कोपी।*' **किहें**=करनेपर। **रोपना**=दृढ़ताके साथ करना। **पन रोपी**=दृढ़ प्रतिज्ञा करके दृढ़तापूर्वक निश्चय करानेकी यह एक मुद्रा है, यथा—'*सत्य कहउँ दोउ भुजा उठाई।*' बातकी सत्यता निश्चय करानेके लिये हाथ उठाकर प्रतिज्ञा की जाती है। यह एक प्रकारसे शपथ करनेकी क्रिया है।

अर्थ—आपकी सुन्दर रीति, सुन्दर बानि और बड़ाई संसारमें प्रसिद्ध है, जो वेद-शास्त्रोंने गायी है॥ १॥ जो क्रूर, कुटिल, खल, दुर्बुद्धि, कलंकी, नीच, निश्शील, निरीश्वरवादी एवं अनाथ और निश्शंक हैं॥ २॥ ऐसोंको भी शरणमें और सम्मुख आया हुआ सुनकर एक ही बार प्रणाम करनेपर अपना लिया॥ ३॥ (शरणागतके) दोषोंको देखकर भी कभी आप हृदयमें न लाये और उसके गुणोंको सुनकर ही सज्जनोंके समाजमें उनका बखान किया (प्रशंसा करते हुए गुण वर्णन किये)†॥ ४॥ ऐसा और कौन स्वामी सेवकपर कृपा करनेवाला है जो आप ही (सेवकका) सब साज-समाज सज दे॥ ५॥ अपनी करनी (कर्तृत्व, उपकार जो उसपर किये हैं) को स्वप्नमें भी नहीं समझे (स्मरण करे) प्रत्युत सेवकका संकोच और सोच अपने हृदयमें बराबर बनाये रहे अर्थात् बराबर इसका सोच रहता हो कि सेवकको कोई संकोच या चिन्ता न होने पावे॥ ६॥ ऐसा स्वामी (आपके सिवा) कोई दूसरा नहीं है (यह मैं) हाथ उठाकर प्रतिज्ञा करके सत्य कह रहा हूँ॥ ७॥

---

* समाज—राजापुर। समान—को० रा०। 'समान' पाठका अर्थ होगा—'सेवकका सब साज अपने समान सज दे'।

† 'रहत न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिये की॥ जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिर सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥ ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥'-(बा० २९)

पु० रा० कु०—*'राउरि रीति सुबानि बड़ाई।......'* इति।—अपनी भलाईसे दूसरेका भला करना यह जो आपकी रीति है, सुन्दर प्रकृति (स्वभाव, टेव) और बड़ाई है यह जगत्‌में विदित है। श्रुति, स्मृति और शास्त्रोंमें कही गयी है, कुछ मैं ही नहीं कहता और इससे कुछ मेरी ही भलाई नहीं हुई वरंच सब कहते हैं, सभीकी भलाई आपकी कृपा और भलाईसे हुई है। इसीको आगे विस्तारसे स्पष्ट करते हैं—*'क्रूर कुटिल......'*। रीति वह है जो बहुत कालसे न जाने कबसे, बरती जा रही हो। 'बानि' स्वभाव है जो स्वतः होता ही है और बड़ाई बड़प्पन है; छोटोंकी, दासोंकी रक्षा, आदर आदि गुण हैं।

नोट—१ *'रीति सुबानि बड़ाई'* के उदाहरण ये हैं—(१) *'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई॥'* (१६४) *'एहि देवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।'* (वि० १६५) *'ऐसी कौन प्रभुकी रीति। बिरुद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति॥'* (वि० २१४) (२) *'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥'* (३। १०। ८) *'सरल प्रकृति आपु जानिये करुनानिधान की। निज गुन अरिकृत अनहितौ दास दोष सुरति चित रहति न दिये दान की॥ बानि बिसमरन सील है मानद अमान की।'* (वि० ४२) *'तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुखपर केहि बिधि करउँ बड़ाई॥''''सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीति'* (उ० १६) *'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥ जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहिं साधु समाना॥'''।'* (५।४८) *'मम पन सरनागत भयहारी।'* (५। ४३) *'श्रीरघुबीर की यह बानि। नीचहूँ सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि॥ १॥ परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि। लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेमको पहिचानि॥ २॥ गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यो हिंसा सानि। जनक ज्यों रघुनाथ ताकहँ दियो जल निज पानि॥ ३॥ प्रकृति मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन खानि। खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि॥ ४॥ रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि। भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि॥ ५॥ कौन सुभग सुसील बानर जिन्हहिं सुमिरत हानि। किए ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि॥ ६॥ राम सहज कृपालु कोमल दीन हित दिन दानि। भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि॥'* (वि० २१५) तथा (३) *'रघुबर रावरि इहै बड़ाई। निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई॥'* (१६५)

नोट—२ *'क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी।.......'* इति। क्रूर=भयंकर स्वभावके यथा—*'फोरहिं सिल लोढ़ा सदन लागे अढुक पहार। कायर क्रूर कपूत कलि घरघर सहस डहार॥'* —कुटिल=मन-कर्म-वचनसे टेढ़े। खल=पर अपकार करनेवाले, यथा—*'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥''''''* (उ० १२१) कुमति=दुर्बुद्धि जिनको हानि-लाभका विचार नहीं। 'कलंकी' (अयशी) पापी क्योंकि *'बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।'* नीच=वर्णाधम; वा जो सज्जनका साथ पाकर भी कमीनापन नहीं छोड़ता यथा—*'नीच गुड़ी ज्यों जानिबो सुनि लखि तुलसीदास। ढील दिये गिरि परत महि खैंचत चढ़त अकास॥'*—(दो० ४०१)। निसील=किसीका मुलाहजा मुरव्वत या खयाल न रखनेवाले, जिसकी आँखोंमें पानी न हो 'निरीश'=नास्तिक। 'निसंकी'=बड़े-बूढ़े किसीका डर न रखनेवाले।

नोट—३ (क) यहाँ नौको गिनाकर ऐसे ही असंख्य मनुष्य सूचित किये। नौ अङ्ककी सीमा है ऐसोंको भी सम्मुख आते ही अपना लेते हैं। (ख) *'सुनि'* अर्थात् किसीने कह भर दिया कि शरण आया है तो भी अपना लिया। नं० प० जी 'सुनि' से 'प्रभुके गुणोंको सुनकर शरणमें आये' ऐसा अर्थ करते हैं। मूलमें 'गुण' शब्द यहाँ नहीं है (ग) *'सकृत प्रनाम किहें अपनाए',* यथा—*'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥'* (वाल्मी० विभीषणशरणागति)। विशेष उदाहरण *'प्रनतपाल।'* (२१८।२) में देखिये।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—*'देखि दोष कबहुँ न उर आने।''''* (क) देखी हुई बात प्रामाणिक होती है, उसमें संदेह नहीं होता और सुनी हुई बात अप्रामाणिक है, वह झूठ भी हो सकती है; पर अ

ऐसे गुणग्राहक और सुसाहिब हैं कि सुने हुए झूठे गुणोंको भी सत्य मानकर आदर देते हैं, और आँखोंसे दोषको देखकर भी उसपर किंचित् ध्यान नहीं देते, मानो वे दोष हैं ही नहीं। (१।२९।५) *'रहत न प्रभु चित चूक किये की।'* इत्यादि देखिये। यथा—*'साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरे॥'*—(दो० ४७) **'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥'** (गीता) (ख) सुने हुएकी भी साधुसमाजमें प्रशंसा करते हैं। बा० २९ (८) देखिये। पुनः, यथा—*'सुनि सेवा सहि को करै परिहरै को दूषन देखि। केहि दिवान दिन दीन को आदर अनुराग बिसेषि॥'* (विनय० १९१)*

टिप्पणी—२ *'आपु समाजु साज सब साजी'*—आप ही सब साज-समाज सजकर सेवकको निवाजते हैं। तात्पर्य यह कि आप ही अपने प्रसन्न होनेलायक गुण दासको दे देते हैं और आप ही उन गुणोंपर प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसा स्वामी दूसरा कौन है? यही बात आगे पशु, शुक और नट, पाठकके दृष्टान्त देकर पुष्ट करते हैं—*'पसु नाचत'* से *'यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर'* तक। यदि *'आपु समान'* पाठ हो तो अर्थ होगा—'अपने समान सब साज सजकर'। भाव यह कि अन्य स्वामी अपने समान सेवकका साज देख जलते हैं जैसा आजकल सर्वत्र देख पड़ता है पर आप स्वयं सेवकको अपने समान सजा देते हैं। —(जनकपुरके वर्णनमें बा० २१४ (३) में लिखा जा चुका है)। और कौन कहे सब वानरों, निशाचरोंको मनोहर मनुष्यरूप धारण करा दिया, यथा—*'हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा॥'*

टिप्पणी—३ *'निज करतूति न समुझिअ सपने।'''* इति। *'निज करतूति'* अर्थात् सेवकपर जो आपने उपकार किये और करते हैं उनको बिलकुल मनकर्मवचनसे भूल जाते हैं। 'सपने' अर्थात् जाग्रत्‌का तो बात बहुत ही दूर स्वप्नमें भी कभी उनका खयाल नहीं आने देते। 'न समुझिय' अर्थात् कितना ही कुछ उपकार करें पर कभी यह नहीं समझते कि हमने इसके साथ कुछ भी उपकार किया है, सेवकका संकोच देखकर उलटे अपने हृदयमें सकुचते हैं कि हमने इसको कुछ न दिया, हमसे कुछ न बन पड़ा। सेवक लज्जित होता है कि हमने कुछ सेवा नहीं की और प्रभु इतनी असीम कृपा कर रहे हैं और प्रभुको यह सोच कि इसने बहुत सेवा की, हमने कुछ न दिया। जैसे विभीषणको लङ्काका राज्य दिया पर मनमें सोच रहा कि कुछ न दिया, यथा—*'जो संपति सिव रावनहिं दीन्हि दिये दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥'* (सु० ४९); पुनः, यथा—*'केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा॥'*—करोड़ों पीढ़ियोंसमेत उसको तार दिया फिर भी समझते हैं कि कुछ न दिया।

टिप्पणी—४ *'सेवक सकुच सोच उर अपने'* का दूसरा अर्थ यह है कि सेवकके लिये अपने हृदयमें संकोच और सोच करते हैं। देनेमें संकोच कि यह कुछ नहीं है, सेवा अनुकूल नहीं है, कैसे दें, उसी कारण सोच रहता है कि कुछ न दिया, ऋणिया बने रहते हैं। लक्ष्मणजीको शक्ति लगी उसका इतना सोच नहीं जितना विभीषणके कार्यका था, यथा—*'ऐसे समय समर संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता। गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती। ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥'* (गी० ६।७) पुनः, यथा—*'लंका जरी जोहे जिय सोच सो बिभीषन को। कहौं ऐसे साहेब की सेवा न खटाइ को॥'* (क० उ० २२) श्रीनंगे परमहंसजीने *'सकुच सोच'* का अर्थ 'संकोचका सोच' किया है।

टिप्पणी—५ *'सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी।''''''* इति। शपथ करके, ईश्वरकी साक्षी देकर, प्रण करके कहते हैं। मिलान कीजिये—**'को वा दयालुः स्मृतकामधेनुरन्यो जगत्यां रघुनायकादहो। स्मृतो मया नित्यमनन्यभाजा ज्ञात्वा स्मृतिं मे स्वयमेव यातः॥'** (अ० रा० ३।२।८) श्रीशरभंगजी मन-ही-मन कह रहे हैं—अहो! इस संसारमें श्रीरघुनाथजीको छोड़कर स्मरण करनेपर कामनाओंको पूर्ण करनेवाला और

* 'शिला स्राप पाप गुह गीध को मिलाप शबरी के पास आप चलि गये हौ सो सुनी मैं। सेवक सराहे कपिनायक बिभीषन भरत-सभा सादर सनेह सुरधुनी मैं॥१॥ आलसी अभागी अघी आरत अनाथपाल साहेब समत्थ एक नीके मन गुनी मैं। दोष दुख दारिद दलैया दीनबंधु राम तुलसी न दूसरो दयानिधान दुनी मैं॥' (क० उ० २१)

कौन दयालु है? मैं उनका नित्य अनन्य भावसे स्मरण करता था। अतः मेरे स्मरणको जानकर वे स्वयं ही चले आये।

पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना। गुन गति नट पाठक आधीना॥८॥
दो०—यों सुधारि सनमानि जन किये साधु सिरमोर।
को कृपाल बिनु पालिहै बिरिदावलि बरजोर॥२९९॥

शब्दार्थ—'**नट**'— एक नीच जाति जो प्रायः गा-बजाकर, बन्दर, बकरी, रीछ आदिको नचाकर, और भी खेल-तमाशे आदि दिखलाकर निर्वाह करते हैं। यहाँ बन्दर, बकरी आदिका नचानेवाला अभिप्रेत है '**पाठक**'=पाठ देनेवाला, पढ़ाने या सिखानेवाला। '**गुन**' अर्थात् पाठप्रवीणता। '**सिरमोर**' (सिरमौर)=शिरोमणि, प्रधान, श्रेष्ठ। '**बिरिदावलि**'=विरुदावली; किसीके गुण-प्रताप-पराक्रम आदिका सविस्तार कथन, यश-वर्णन, प्रशंसा। पर यहाँपर 'बाना' 'यश वा गुणोंकी पंक्ति'। '**पालिहै**'=पालन करेगा। अनुकूल आचरणद्वारा किसी बातकी रक्षा या निर्वाह करना उसका 'पालना' कहा जाता है। रक्षा करना। '**बरजोर**'=प्रबल, जबरदस्त, बलपूर्वक, बहुत जोरसे।

अर्थ—पशु नाचते हैं, तोते पाठ (जो उनको पढ़ाया जाता है) में प्रवीण हो जाते हैं पर (तोतेकी पाठप्रवीणता) गुण और (पशुकी नाचनेकी) गति पढ़ानेवाले और नचानेवालेके अधीन है (अर्थात् नाच और पाठप्रवीणतामें पशु या तोते कुछ बड़ाई पानेके अधिकारी नहीं, प्रशंसा योग्य तो नट और पाठक ही हैं जिन्होंने उन्हें ऐसा बना दिया)॥८॥ इसी तरह आपने अपने सेवकको सुधारकर और सम्मान करके साधुशिरोमणि बना दिया। कृपा करनेमें समर्थ आपके सिवा और कौन अपनी प्रबल विरुदावलीको हठ करके पालन करेगा? अर्थात् कोई नहीं॥२९९॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० *पसु नाचत''''''। गुन गति नट पाठक आधीना॥'* इति। बन्दर, बकरी, भालु आदिको जैसा नट सिखाते हैं वैसा ही वे नाचते हैं और तोतेको जैसा पढ़ानेवाला पढ़ाता है वैसा वह पढ़ता और कहता है। पशु-पक्षीमें अपनी योग्यता नहीं कि वे स्वयं नाच नाचें या पढ़ लें। वैसे ही सेवकमें अपना कोई गुण नहीं कि आपको रिझा ले। आप ही अपनी रीझका साज-समाज सजकर उसपर प्रसन्न होते हैं जैसा ऊपर कह आये हैं। इसमें प्रशंसा आपकी ही है न कि सेवककी। [मिलान कीजिये—*'आपु हौं आपुको नीके कै जानत रावरो राम भरायो गढ़ायो। कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकीनाथ पढ़ायो॥ सोई है खेद जो बेद कहै न घटे जन जो रघुबीर बढ़ायो। हौं तो सदा खरको असवार तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो॥'* (क० ७। ६०) *'नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥'* (४।७)

पां०, रा० प्र०—वीरकविजी, 'गुणोंकी गति नचाने और पढ़ानेवालेके अधीन है' ऐसा अर्थ करते हैं। अर्थात् वैसे ही मेरी भलाईका गुण आपके अधीन है। दीनजी लिखते हैं कि—*'नट पाठक आधीना'* अर्थात् नट डोरीको जैसे-जैसे घुमावेगा पशु उसी प्रकार नाचेगा तथा तोतेको पढ़ानेवाला जो कुछ सिखावेगा वह वही पढ़ेगा। परन्तु प्रशंसा होती है पशु और सुग्गेकी, इसी प्रकार सेवकोंके सारे यश और विभवका कारण हैं तो वास्तवमें आप, पर प्रशंसा होती है दासोंकी।

टिप्पणी—२ *'यों सुधारि सनमानि जन''''''* इति। 'यों' अर्थात् जैसे नट पशुको और पाठक तोतेको सुधारकर उनके गुणोंकी प्रशंसा करके सब लोगोंमें उनका यश बढ़ाते हैं वैसे ही। 'यों' से इस दोहेका सम्बन्ध पूर्व अर्धालीसे मिलाया। वह उपमेयवाक्य है और दोहेका पूर्वार्द्ध *'यों सुधारि सनमानि जन किये साधु सिरमोर'* उपमान वाक्य है।

टिप्पणी—३ *'को कृपालु बिनु पालिहै बिरिदावलि बरजोर,'* यथा—*'कौन देव बरियाइ' बिरद हित हठि हठि अधम उधारे। खग मृग व्याध पषान बिटप जड़ जवन कवन सुर तारे। देव दनुज मुनि नाग मनुज सब*

माया बिबस बिचारे।'''' (विनय० १०१)। 'बरजोर' के दोनों भाव यहाँ हैं, यह 'पालिहै' और 'बिरिदावलि' दोनोंके साथ है। *'बरजोर बिरिदावली बरजोर पालिहै'* अर्थात् जबरदस्त यशकी पंक्तिको बरियाई पालन करेगा।

टिप्पणी—४ यहाँतक साधारणतया सबपर भलाई करना कहा, आगे अपने ऊपर भलाई करना कहते हैं। ऊपर जो गुण कहे उनसे अपना सम्बन्ध मिलाते हैं।

पां०, वै०—यहाँतक रघुनाथजीको रघुनाथजीके समान कहा, उन्हींके गुण कहे। आगे अपने अवगुण कहते हैं।

☞यहाँतक प्रभुके यशमें वस्तुत: दो विशेष गुण दिखाये हैं। एक तो यह कि कैसा भी कोई दुराचारी शरणमें आया तो एक बारके प्रणाममात्रसे उसको अपना लेते हैं और दोष देखकर भी उसपर ध्यान नहीं देते वरन् सुने हुए गुणोंकी प्रशंसा साधु-समाजमें करते हैं। दूसरा यह कि अपना उपकार भूल जाते हैं, सेवककी सेवापर उसके योग्य उसको कुछ न देनेका संकोच और सोच बना रहता है, उसके कृतज्ञ रहते हैं।

सोक सनेह कि बाल सुभाएँ। आयेउँ लाइ रजायसु बाएँ॥ १॥
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा॥ २॥
देखेउँ पाय सुमंगल मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला॥ ३॥
बड़े समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ी चूक साहिब अनुरागू॥ ४॥
कृपा अनुग्रहु अंगु अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई॥ ५॥
राखा मोर दुलार गोसाईं। अपने सील सुभाय भलाईं॥ ६॥

शब्दार्थ—**बाएँ लाइ**=बाँया देकर। बाँया देना मुहावरा है—जान-बूझकर टाल जाना या त्याग करना, अनुकूल न करना, प्रतिकूल या विरुद्ध करना, (बातका) न मानना। **अनुग्रहु**=दु:ख दूर करनेकी इच्छा, अपना बनाना, अंगीकारत्व—(वै०)। 'कृपा', यथा भगवद्गुणदर्पणे—'**स्वसामर्थ्यानुसंधानाधीनाकालुष्यनाशन:। हार्दोभाव विशेषो य: कृपा सा जागदीश्वरी॥**'—(वै०) **अंगु अघाई**=सर्वाङ्गपूर्ण।

अर्थ—अपने शोकसे या स्नेहसे या बालस्वभाव (लड़कपन) से आज्ञाको बायाँ देकर (न मानकर) यहाँ आया॥ १॥ तब भी, हे कृपालु! आपने अपनी ओर देखकर सभी प्रकारसे मेरा भलप्पन ही माना॥ २॥ मैंने सुन्दर मङ्गलोंके मूल आपके चरणोंका दर्शन किया। स्वामीको अपने ऊपर स्वाभाविक ही अनुकूल जान लिया (पाया)॥ ३॥ बड़े समाजमें अपना भाग्य देखा कि इतनी बड़ी चूक होनेपर भी स्वामीका मुझपर कैसा अनुराग है॥ ४॥ हे कृपानिधान! मुझपर आपने सर्वाङ्गपूर्ण कृपा और अनुग्रह अघाकर सब अधिकताके साथ किये हैं॥ ५॥ हे गोसाईं! आपने अपने शील, स्वभाव और भलाईसे मेरा दुलार (लाड़-प्यार) रखा॥ ६॥

नोट—१ *'सोक सनेह कि बाल सुभाएँ'*, यथा—*'एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय राम''''* से *'एकहि आँक इहहि मनमाहीं। प्रात काल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥'* (१८३। २) तक। *'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती।''''* (२१२। १) यह शोक है जिससे दौड़े आये। *'तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥ जेहि सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी॥'* (१८३। ७-८) *'कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देब मुनि रामहि राजू॥'* (१८७। ३) इत्यादि स्नेह है जिससे मनाने आये। गुरु, पिता-माता, मन्त्री किसीकी तथा प्रभुका संदेश न माना, अपनी हठ की—*'एकहि आँक इहइ मन माँहीं।'''* यह 'बाल सुभाएँ' है क्योंकि बालक हठ करता है। (ख) *'लाइ रजायसु बाएँ'* इति।*'प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आयेउ इहाँ समाज सकेली॥'* (२९८। ५) देखिये। 'रजायसु' शब्दसे सूचित करते हैं कि आप ही श्रीअवधके राजा हैं, फिर भी मैंने आज्ञा न मानी। यह अपराध किया जिससे दण्डके योग्य था। (ग) *'हेरि निज ओरा'*— अर्थात् आप जनके अपराधको नहीं देखते, अपनी कृपा आदि गुणोंकी ओर देखकर ही जनका भला करते हैं।—*'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती। राम*

सुस्वामि कुसेवक मोसो। निज दिसि देखि दया निधि पोसो॥' (१।२८। ३-४) मिलान कीजिये—*'जो पै जिय धरिहौ अवगुन जन के। तौ क्यों कटत सुकृत नख तें मो पै बिपुल बृन्द अघ बन के।'* (वि० ९६) *'जो पै हरि जन के अवगुन गहते।''''''जो सुतहित लिये नाम अजामिलके अघ अमित न दहते। तौ जमभट साँसति हर हमसे वृषभ खोजि खोजि गहते। जौ जग बिदित पतित पावन अति बाँकुर बिरद न बहते। तौ बहु कल्प कुटिल तुलसी से सपनेहु सुगति न लहते।'* (वि० ९७)

'सोक सनेह''''' इति। वाल्मी० २। ९७ में श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहा है कि स्नेह-परवश तथा शोकसे व्याकुल होकर ये भरत मुझे देखनेके लिये आये हैं, इनके आनेका और कोई प्रयोजन नहीं है। यथा—'**स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः। द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथागतः॥**' (११)

टिप्पणी—पु० रा० कु० १—*'सबहि भाँति भल मानेउ मोरा'* का स्वरूप, यथा—*'तीनि काल तिभुअन मत मोरे। पुन्यसिलोक तात तर तोरे॥ उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई॥''''''मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार।'* (२६३) इत्यादि।

टिप्पणी—२ *'देखेउ पाय सुमंगल मूला।''''''* इति।—जो भरतजीने अवध-दरबारमें कहा था कि *'देखे बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ।'* (१८२) उसके सम्बन्धमें *'देखेउँ पाय सुमंगल मूला'* कहा। और जो चित्रकूटके निकट पहुँचनेपर समझे थे, संदेह करते थे कि *'राम लषन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥'* (२३३। ८) उसके सम्बन्धमें यहाँ कहा कि *'जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला'*। [यहाँ चित्रकूट आनेका फल कहा। (पा०)]

टिप्पणी—३ *'बड़े समाज बिलोकेउँ भागू''''''।'* इति। यह श्रीवसिष्ठजी, श्रीविश्वामित्रजी और श्रीजनकजी आदिका समाज है, अतः 'बड़ा' कहा। 'बड़ी चूक' अर्थात् आज्ञाका उल्लङ्घन। इतना बड़ा अपराध किया उसपर भी स्वामीका मुझपर ऐसा अनुराग है और श्रीवसिष्ठादि सभी बड़े-बड़े महानुभावोंके बीचमें तथा समाजभर प्रशंसा कर रहा है यही बड़ा भाग्य है।

शीला—*'बड़े समाज बिलोकेउँ भागू'''''।'* का भाव यह कि ऐसे समाजमें मेरा भाग्य दब जाना चाहिये, सो न दबा। चूक बड़ी है उसपर स्वामीका बड़ा अनुराग है इससे मेरा भाग्य सर्वोपरि है।

टिप्पणी—४ *'कृपा अनुग्रह अंगु अघाई।'* इति। (क) 'कृपा अनुग्रहके अंग अच्छी तरहसे कृपानिधिने सब अधिकतासे किये हैं अर्थात् कृपा अनुग्रहमें कुछ कसर बाकी नहीं रही'। वा, (ख) सर्वाङ्ग कृपा अनुग्रहसे अघा गया, सन्तुष्ट हो गया। हे कृपानिधि! आपने सब अधिक किया अर्थात् जितनेके लायक मैं न था उतना आपने मेरे ऊपर अनुग्रह किया। [रा० प्र० कार और पंजाबीजी 'अंग' का अर्थ 'सहायता' लेकर इस अर्धालीका यह भी अर्थ करते हैं—'कृपा, अनुग्रह और सहायता सबको कृपानिधिने अधिकाईसे अघाकर किया।' बैजनाथजी कहते हैं कि कृपासे अपराध नाश करके स्नेही बनाया और अनुग्रहसे अंगीकार किया। वीरकविजीने पुनरुक्तिके भयसे यों अर्थ किया है—'हे कृपानिधि! आपने सब तरहसे बड़ी कृपा की, इस अनुग्रहसे मेरा अंग परिपूर्ण हो गया।']

टिप्पणी—५ *'राखा मोर दुलार गुसाईं।'''भलाईं'* इति।—अर्थात् आपने दुलार न रखा होता तो विधिने तो हमारा दुलार नष्ट ही कर डाला होता, यथा—*'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा॥'* (२६१। १) (ख) *'अपने सील सुभायँ भलाई'* अर्थात् आपने अपनी ओरसे रक्षा की, मुझमें कोई गुण नहीं थे जिसे देखकर आप रक्षा करते? भलाई=भलमंसाहत। यथा—*'मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई। हौं तो साँइ द्रोही पै सेवक हित साँई।'''पाथ माथे चढ़ै तृन तुलसी जो नीचो। बोरत न बारि ताहि जानि आपु सींचो'*—(विनय० ७२) किसीका मत यह है कि भरतजीने जो अपने लिये कहा कि *'सोक सनेह कि बाल सुभाएँ'* उसीके अनुसार यहाँ प्रभुमें तीन गुण *'सील सुभायँ भलाई'* कहे। शोकसे आया तो आपने शीलसे दुलार किया, बाल स्वभाव है अतः अपनी भलाईसे दुलार किया और स्नेहसे आया तो आपने अपने स्वभावसे दुलार किया।

नाथ निपट मइ कीन्हि ढिठाई। स्वामिसमाज सकोच बिहाई॥ ७॥
अबिनय बिनय जथारुचि बानी। छमिहि देउ अति आरति जानी॥ ८॥
दो०—सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि॥ ३००॥

शब्दार्थ—अबिनय=विनयका अभाव, ढिठाई, उद्दण्डता।

अर्थ—हे नाथ! मैंने स्वामी और समाजका संकोच छोड़कर सर्वथा ढिठाई की है॥ ७॥ हे देव! मेरे अत्यन्त दुःखको जानकर मेरी इस अविनय या विनयकी रुचि अनुकूल वाणीको क्षमा कीजियेगा॥ ८॥ सुहृद्, सुजान और सुसाहिबसे बहुत कहना बड़ा दोष है। हे देव! अब मुझे आज्ञा दीजिये, वही मेरा सब सुधारेगी। अर्थात् आज्ञा छोड़ और किसी तरह मेरी बिगड़ी नहीं सुधर सकती, इससे अब शीघ्र आज्ञा दीजिये॥ ३००॥

टिप्पणी—१ *'निपट ढिठाई'*—बड़ोंके समाजमें बोलना ढिठाई है और यहाँ सबके बीचमें स्वामीका भी संकोच न किया, उनके सम्मुख ढिठाई की, अतः 'निपट ढिठाई' है।

टिप्पणी—२ *'अबिनय बिनय जथारुचि बानी'* इति।—यह मेरी वाणी अनीति है वा नीतिकी, नम्रतारहित है वा विनीत है, कुप्रार्थना है या प्रार्थना—जो कुछ भी हो यह रुचिके अनुसार कही गयी है। इसे क्षमा करेंगे क्योंकि मैं आर्त हूँ और आर्तके चित्तमें चेत नहीं रहता, जो मनमें आया वही कह डालता है, विचारकी शक्ति उसमें नहीं रह जाती। यथा—*'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलग न मानिये बोलहि न बिचारी॥'* (वि० ३४) सुहृद् सदा हित ही करेगा, वह अहित कदापि करेगा ही नहीं। *'सुजान'* चतुर जो मनकी जानता है, सब विद्याओंमें चतुर है, वह जो कुछ करेगा वह वेद-शास्त्रादिका सार होगा और धर्मनीतिमय एवं विवेकमय होगा और *'सुसाहिब'* अपने सेवकका सदा पालन ही करता है, कैसा ही अपराध क्यों न हो जाय; तब जिसमें ये तीनों बातें हैं उससे कहना कि ऐसा करो यह बड़े दोषकी बात है। *'बड़ि खोरि'* से जनाया कि थोड़ा भी कहना दोष है और बहुत कहना बड़ा दोष है। यह सिद्धांत भरतजीका है। आगे भी यही कहेंगे *'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा॥'*

वि० त्रि०—*'सुहृद सुजान'''मोरि'* इति। सुहृद् सुजान सुस्वामीसे तो कुछ कहना ही नहीं चाहिये, सेवकका हित तो स्वामीकी सेवकाई, सब प्रकारके सुखका लोभ छोड़कर करनेमें है। उससे थोड़ा भी कहना दोष है और बहुत कहना तो बड़ा भारी दोष है। जो निर्दय हो उसे पसीजनेके लिये अधिक विनयकी आवश्यकता होती है, या जो बेसमझ हो उसे समझानेके लिये अधिक कहना पड़ता है, पर जो सुहृद् हो, सुजान हो, उससे बहुत कहना मानो उसपर दयाहीन और बेसमझ होनेका दोषारोपण करना है, उसे कुस्वामी कहना है, इसलिये मैं बहुत नहीं कहता, बड़ोंको आप आदेश मत दीजिये, मुझे आदेश दीजिये। इतनेसे ही मेरी सब सुधर जायेगी। भाव वही है जो गुरुजीने कहा था। मुझे यदि आज्ञा दीजियेगा और उसके अनुसार मैं चलूँगा तो राजा आप रहे, मैं सेवक रहा। मेरा सेवक-धर्म अक्षुण्ण रह जायगा।

प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सीव सुहाई॥ १॥
सो करि कहौं हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥ २॥
सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥ ३॥
अग्याँ सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावइ देवा॥ ४॥
अस कहि प्रेमबिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥ ५॥
प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥ ६॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥ ७॥

शब्दार्थ—**प्रसादु**=जो पदार्थ देवता, महात्मा या गुरुजन प्रसन्नतापूर्वक प्रसन्न होकर देते हैं।

अर्थ—प्रभुके चरण-कमलरजकी, जो सुन्दर सत्य, सुकृत और सुखकी सुन्दर सीमा है, उसकी शपथ करके अपने हृदयकी जागते, सोते और स्वप्नकी रुचिको कहता हूँ॥ १-२॥ स्वाभाविक स्नेहसे, स्वार्थ, छल और चारों फलोंकी आशा छोड़कर स्वामीकी सेवा करने तथा* आज्ञा (पालन) के समान सुसाहिबकी दूसरी सेवा नहीं है—हे देव! वही प्रसाद सेवकको मिले॥ ३-४॥ ऐसा कहकर (भरतजी) प्रेमके अतिशय वश हो गये, उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें जल भर आया॥ ५॥ अकुलाकर उन्होंने प्रभुके चरण-कमल पकड़ लिये। वह समय और उस समयका प्रेम कहा नहीं जा सकता॥ ६॥ दयासागर श्रीरघुनाथजीने सुन्दर वाणीसे उसका सम्मान करके हाथ पकड़कर उनको अपने पास बिठाया॥ ७॥

नोट—१ '*प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत*·····' इति। यहाँ '*सत्य सुकृत*·····' को कोई 'पराग' का और कोई 'दोहाई' का विशेषण मानते हैं। पं० रामकुमारजी, रा० प्र०, बैजनाथजी, पाँड़ेजी आदि इसे रजका विशेषण मानते हैं और पंजाबीजी और दीनजी 'दोहाई' का।

पं०—चरणारविन्दोंकी जो शपथ है वह सत्य, पुण्यों और सुखकी भी सीमा है। भाव कि झूठी शपथ करनेवालेके सत्य, सुकृत और सुख सभी नष्ट हो जाते हैं।

पु० रा० कु०, रा० प्र०—पदपद्मपराग सत्य आदिकी सीमा है, सत्य, सुकृत और सुख यहींतक हैं, इनसे बस है। (नोट—'*सुहाई*' सत्य आदि और '*सींव*' दोनोंका विशेषण है। सत्य आदि असुहावन भी होते हैं, यह पूर्व कई ठौर दिखाया जा चुका है)।

बै०—रज कैसी है। इससे अहल्याको सत्य अर्थात् पतिसंयोग प्राप्त हुआ, निषादको सुकृत और दण्डकारण्यको सुख मिला।

नोट—२ '*रुचि जागत सोवत सपने की*' इति। तुरीयावस्थामें प्रभुकी प्राप्ति स्वाभाविक ही है, अन्य तीन जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्नमें विक्षेप भी हो जाता है, अतएव इन्हीं तीनको कहा। (बै०) यहाँ सन्देह यह होता है कि रुचि तो जाग्रत्में होती है, सपनेमेंके रुचिको भी रुचि माना जा सकता है, पर गाढ़निद्रामें तो कोई रुचि नहीं होती, उस अवस्थामें रुचिका होना कैसे सम्भव है? इसका उत्तर यही है कि कभी जाग्रत्में भी रुचि नहीं रहती, इसका अर्थ यह है कि रुचि है ही नहीं, रुचि है, पर उदारावस्थामें नहीं है सुषुप्तामें है, कारण पाकर जाग जायगी। इसीलिये रुचिकी भी चार अवस्थाएँ मानी जाती हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। सो गाढ़ निद्रामें भी रुचि सुषुप्तावस्थामें रहती है। (वि० त्रि०)

नोट—'*सहज सनेह स्वामि सेवकाई।*' इति। यह तीनों अवस्थाओंकी अपनी रुचि कही। पु० रा० कु० जी एवं रा० प्र० चारों पदार्थोंकी इच्छाको ही स्वार्थ और छल मानते हैं। इनकी चाह ही सेवामें छल है। अर्थ—चारों फलोंका स्वार्थरूपी छल।' मिलान कीजिये:—'*स्वारथ परमारथ रहित सीताराम सनेहु। तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एहु॥ परहु नरक फल चारि मिसु मीचु डाकिनी खाउ। तुलसी रामसनेह को जो फल सो जरि जाउ॥*' (दो० ६०, ९२)

'*भानु पीठि सेइअ उर आगी। स्वामिहि सर्बभाव छल त्यागी॥*' (कि० २३। ४)

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंमेंसे जो अर्थ और काम धर्मानुकूल हैं वे भगवान्की ही विभूति हैं। यथा—'**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ**' (गीता) अतः धर्मविरुद्ध अर्थ और काम ही स्वार्थ हुआ। धर्मानुकूल अर्थ और काम मोक्षके परम्परागत साधन हैं। भगवान्का सेवक होकर अन्य देवी-देवता-मनुष्य आदिका भरोसा करना 'छल' है। स्वार्थ, परमार्थ और छल इन सबोंका त्याग करके सहज-स्नेहसे सेवा करना दास्यभक्तिका लक्षण है, यह यहाँ बताया गया।'

नोट—४ '*सो प्रसाद जन पावइ देवा*'। देवता प्रसन्न होकर प्रसाद देते हैं, वर देते हैं। आप प्रसन्न हैं; मैं यही वर माँगता हूँ, 'आज्ञा' रूपी प्रसादकी ही मुझे चाह है।

---

* अर्थान्तर—स्वार्थ, छल और चारों फलोंको छोड़कर सहज स्नेह करना ही स्वामीकी सेवा है।

नोट—५ *'अस कहि प्रेम बिबस भए भारी।'* प्रेमके विशेष वश होनेसे यही दशा हो जाती है, पूर्व भी अनेक स्थलोंमें दिखा आये हैं। मिलान कीजिये हनुमान्‌जी, लक्ष्मणजी आदिकी दशा—*'चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥'* (सु० ३२) *'बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेममगन तेहि उठब न भावा॥ प्रभु कर पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥'*; *'कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥'* (७०। २)……'।

नोट—६ *'बैठाए समीप गहि पानी'* इति। ☞ यह भाग्य इनके अतिरिक्त श्रीरामचरितमानसमें केवल हनुमान्‌जीको प्राप्त हुआ, अन्य किसीको नहीं। यथा—*'कर गहि परम निकट बैठावा।'* इन दोनोंमें भी निकट और परम निकटका भेद है ही (प० प० प्र०)।

पं०, रा० प्र०—वियोगकी बड़ी सोचकर व्याकुल हुए। चरण गहे कि ये हमसे कभी न छूटें। बाँह पकड़कर समीप बैठाकर जनाया कि तुम निश्चिन्त रहो, हम तुम्हारा त्याग कभी नहीं करेंगे, तुम मुझे सदा अपने समीप समझो।

भरत-भाषण समाप्त हुआ।

भरत विनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥ ८॥

छं०—रघुराउ सिथिल सनेहु साधुसमाज मुनि मिथिलाधनी।
मन महुँ सराहत भरत भायप भगति की महिमा घनी॥
भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिनसे॥

सो०—देखि दुखारी दीन दुहुँ समाज नर नारि सब।
मघवा महा मलीन मुए मारि मंगल चहत॥ ३०१॥

शब्दार्थ—'**धनी**'=स्वामी, राजा, यथा—*'राजधनी जो जेठ सुत आही'*। घनी=बहुत बड़ी। '**मघवा**' (सं० मघवन्)=इन्द्र।

अर्थ—श्रीभरतजीकी विनय सुनकर और स्वभाव देखकर सभा और रघुनाथजी स्नेहसे शिथिल हैं॥ ८॥ श्रीरघुनाथजी, साधुसमाज, वसिष्ठमुनि और मिथिलापति जनकजी स्नेहसे शिथिल हैं। सब मन-ही-मन भरतजीके भाईपन और भक्तिकी अतिशय महिमाकी बड़ी सराहना कर रहे हैं। देवता अपने मलिन मनसे भरतजीकी बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं और फूल बरसा रहे हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि सब लोग (सभामें भरतका निर्णय) सुनकर ऐसे संकुचित हो गये जैसे रात्रिके आगमनसे कमल। दोनों समाजों और सभी स्त्री-पुरुषोंको दुःखी और दीन देखकर महामलिन इन्द्र मरे हुएको मारकर अपना मङ्गल-कल्याण चाहता है॥ ३०१॥

नोट—*'भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से'* इति। (क) मलिन मनसे प्रशंसा करते और फूल बरसाते हैं। क्योंकि श्रीभरतजीकी तरफसे तो निस्संदेह हुए पर अभी श्रीरामजीकी तरफसे सन्देह बना है कि इनके प्रेमके वश न जाने क्या आज्ञा दें। (पु० रा० कु०) (ख) *'मलिन'* क्योंकि शंका है कि भरतजीने केवल आज्ञा माँगी है, यह नहीं कहा कि हम लौटनेको तैयार हैं। पूर्व दरबारमें भी संदिग्ध वचन कहे थे, निश्चय नहीं। आज्ञा माँगनेके कारण प्रशंसा है। (खर्रा) (ग) भरतने प्रेमातुर हो चरण पकड़े और रामजीने उन्हें हाथ पकड़कर समीप बिठाया इसीसे हृदय शङ्कित हो गया है—(पं०) (घ) भाव यह कि किसी प्रकार भरतजी शीघ्र अवधको लौट जायँ—(रा० प्र०)। अथवा, भरतजीका रुख श्रीरामजीको लौटानेका नहीं है इससे अपने स्वार्थकी सिद्धि जानकर फूल बरसाये, पर इससे अवध-मिथिला-वासियोंको अत्यन्त दुःख होगा, इसकी उनको परवा नहीं है और न किञ्चित् चिन्ता है, अतः *'मलिन मन'* कहा और आगे इन्द्रको महामलिन कहा है।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'सब लोग सकुचे निसागम नलिन से'* इति। (क) जैसे पूर्व दरबारमें *'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब। सो सिर धरि धरि करिहिं सब मिटिहि अनट अवरेब॥'* (२६९) भरतजीके ऐसा कहनेपर *'भरत बचन सुचि सुनि सुर हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥ असमंजस सुनि अवधनिवासी। प्रमुदित मन तापस बनवासी॥'* वैसे ही यहाँ अवधमिथिलावासी असमंजसवश सकुचे। (ख) रातके आनेसे कमल संकुचित हो जाते हैं। यहाँ वियोगरूपी रातका आगमन होगा। अभी स्नेहसे शिथिल हैं और आगे वियोगरूपी आज्ञाकी ही आशा है। कारण कि श्रीभरतजीने श्रीरामजीपर छोड़ा है और वे *'पितु आयसु'* रूपी परमधर्मपर आरूढ़ हैं, सत्यसंध हैं, सत्यव्रत हैं, अत: वे लौटेंगे नहीं, श्रीभरतजीको ही लौटायेंगे। अत: *'निसागम'* की उपमा दी। प्रथम दरबारमें भरतजीकी शोकमय वाणी सुनी थी तब कमलवनपर तुषार पड़नेकी उत्प्रेक्षा की थी, यथा—*'सोक मगन सब सभा खँभारू। मनहुँ कमलबन परेउ तुषारू॥'* (ग) सब लोग व्याकुल हो गये क्योंकि भरतजीने लौटनेको न कहकर उन्हींकी रुचिपर छोड़ दिया। अभी श्रीरामजीकी तरफसे निश्चय नहीं हुआ है कि सब लौट जायँ इसीसे *'निसागम'* कहा, अभी रातका आगमन है, वह अभी आ नहीं गयी।

टिप्पणी—२ *'मघवा महामलीन मुए मारि मंगल चहत'* इति। मघवा है, धनसे सम्पन्न है। मरेको मारकर कल्याण चाहना महान् अधमता है। यहाँ सब लोग आगामी वियोग और स्नेहसे शिथिल एवं व्याकुल हो सूख गये हैं, दु:खी और दीन हैं। उनपर उच्चाटन आदिका प्रयोगकर और भी दु:खी कर रहा है। अत: महामलिन कहा। कविने यहाँ *'मघवा'* अनादरसूचक नाम दिया, आगे श्रीरामजीके वचनोंमें यही नाम आयेगा। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि यह अनादरका नाम नहीं है। 'मघवन्'—'मह पूजायाम्'। अमरव्याख्या सुधा देखिये *'मघवा महा मलीन'* में *'ऊँच निवास नीच करतूती'* का भाव है।

कपट कुचालि सीव सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥१॥
काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥२॥
प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला। सो उचाट सब के सिर मेला॥३॥
सुर माया सब लोग बिमोहे। रामप्रेम अतिसय न बिछोहे॥४॥
भय उचाट बस मन थिर नाहीं। छन बन रुचि छन सदन सुहाहीं॥५॥

शब्दार्थ—'पाकरिपु'=पाक दैत्यके शत्रु, इन्द्र। 'मेलना'=डालना, यथा—*'सिय जयमाल राम उर मेली'* 'बिछोहना'=बिलग होना, वियोग होना।

अर्थ—देवराज इन्द्र कपट और कुचालकी सीमा है। उसे पराया काम बिगाड़ना, बिगड़ना और अपना कार्य (साधना-सधना) प्रिय है॥१॥ पाक दैत्यके शत्रु इन्द्रकी रीति कौएके समान है, छली और मलिन (मनका मैला) है। किसीपर भी इसका विश्वास नहीं॥२॥ पहले कुमन्त्र करके कपट एकत्र किया, वह उच्चाट सबके सिर डाल दिया*॥३॥ देवमायासे सब लोग विशेष मोहित हो गये परंतु श्रीरामजीके अतिशय प्रेमसे उनका अधिक बिछोह न हुआ॥४॥ उच्चाटन और भयके वश मन स्थिर नहीं है। क्षणमें वनकी इच्छा होता है और क्षणमें घर अच्छा लगने लगता है॥५॥

नोट—१ *'काक समान पाकरिपु रीती।'''* इति। (क) इन्द्रको पूज्य कविने यहाँ इतने कड़े निन्दित विशेषण दिये। सात विशेषण दिये हैं—कपटसींव, कुचालिसींव, पर अकाजप्रिय, अपना काज प्रिय, छली, मलिन और अविश्वासी। सात क्रूर विशेषण देकर उसे कपट आदि महान् निकृष्ट अवगुणोंका समुद्र सूचित किया। *'सींव'* का भाव कि इससे बढ़कर कपटी-कुचाली कोई दूसरा नहीं। (ख) *'पाकरिपु रीती'* का भाव कि पाक दैत्यके साथ इन दुर्गुणोंका प्रयोग किया था। उसका यह आचरण नया नहीं, बहुत प्राचीन है।

* उस कपटने उच्चाट सबके सिरपर रख दिया। (नं० प०)

ऐसा व्यवहार करते-करते यह उसका स्वभाव-सा हो गया है। (ग) इन्द्रको ऐसा दुष्ट कहनेका कारण यह है कि वह संतों, ऋषियों और रामभक्तोंके साथ भी छल-कपट करता है। जिनकी भक्ति और प्रेमसे सब उनमें प्रेम करते हैं, जिनके प्रेमको देख ऋषितक अपने योग-जप-तप आदिकी निन्दा करते हैं, उन लोगोंके साथ भी यह छल कर रहा है। स्वयं स्वार्थपरायण है, छली आदि है, इसीसे सबको वैसा ही समझता है।

नोट—२ *'प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला। सो उचाट''''''* इससे स्पष्ट है कि उस समय उच्चाटनका सब साज था पर लोगोंपर उसका प्रयोग न किया था। यथा—*'रचि प्रपंच माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाट।'* (२९५) वह प्रयोग अब किया। दोहा ३०१ में जो *'मुएका मारना'* कहा था वह यहाँ स्पष्ट किया। कपट-प्रयोग ही 'मारना' है।

नोट—३ *'राम प्रेम अतिसय न बिछोहे।'*—देवमायासे मोहित भी हो गये और इधर रामप्रेम अतिशय है इससे उस प्रेमसे अतिशय बिछोह भी नहीं हुआ, रामप्रेम भी बना ही रहा। इसीसे दुचित्ते हैं। यही बात आगे स्पष्ट करते हैं।*

दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी॥६॥
दुचित कतहुँ परितोषु न लहहीं। एक एक सन मरम न कहहीं॥७॥
लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू॥८॥
दो०—भरतु जनकु मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ।
लागि देवमाया सबहि जथा जोगु जनु पाइ॥३०२॥

शब्दार्थ—'**दुबिध**'=दो प्रकारकी—(पु० रा० कु०), दुविधामें पड़ी हुई। '**मनोगति**'=मनकी गति वा चाल, मनोवृत्ति। '**दुचित**'=जिसका चित्त एक बातपर स्थिर न हो, कभी एक बातकी ओर प्रवृत्त हो कभी दूसरीकी ओर, दुचित्ता, अस्थिरचित्त; संदेहमें पड़ा हुआ। '**जुबानू**'=जवान, युवक, युवा अवस्थावाला। '**सचेत**'=सज्ञान, विवेकयुक्त प्राणी, सावधान, सचेतन।

अर्थ—मनकी गति दुविधामय होनेसे प्रजा दुःखी है मानो नदी और समुद्रके संगमका जल है (जो सदा चंचल वा डावाँडोल रहता है, स्थिर कभी नहीं रहता, कभी इधर आता, कभी उधर जाता। वैसे ही मन कभी वन छोड़ घरको और कभी रघुनाथजीके साथ वनमें रहनेको चाहता है)॥६॥ अस्थिरचित्त होनेसे कहीं भी संतोष नहीं पाते। एक-दूसरेसे अपना मर्म नहीं कहते॥७॥ यह दशा देखकर दयासागर रघुनाथजी हृदयमें हँसकर कह रहे हैं कि कुत्ता, इन्द्र और जवान समान (प्रकृति, वृत्ति, धर्म वा स्वभाववाले) हैं॥८॥ श्रीभरतजी, श्रीजनकजी, मुनिलोग, मन्त्री, सज्जन और सज्ञान सावधान लोगोंको छोड़कर और सभीको, जिस योग्य जिस मनुष्यको पाया वैसी ही उसपर देवमाया लगी। अर्थात् जिसमें जैसी न्यूनाधिक्य चेतनता थी वैसा ही न्यूनाधिक्य प्रभाव उसपर पड़ा॥३०२॥

टिप्पणी—१ *'दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी।''''''* इति। (क) सहित सिंधु संगमपर नदीके वेगसे उसका जल समुद्रमें जाता है और समुद्रके वेगसे उसका जल नदीमें जाता है, ठेलम-ठेला रहती है। वैसी गति सबके मनकी हो रही है मन और वारि, वनरुचि, घररुचि और सिंधुसरित परस्पर उपमेय उपमान हैं†।

* १ पां०—'अतिशय रामके प्रेमी प्रजा जो बिछोह नहीं चाहते सुरमायाके वश हो मोहित हो गये।'

वै०—अर्थात् किंचित् ही बिछोहको प्राप्त हुए। जिनमें दृढ़ प्रेम था उनमें माया नहीं व्यापी और जिनका मन लोकव्यवहारोंमें रहा उनमें व्याप गयी।

प० प० प्र०—'जिनमें रामप्रेम अतिशय है वे न बिछोहे' तथा 'जिनमें राम-प्रेम साधारण है वे अतिशय बिछोहे', ये दोनों अर्थ समीचीन हैं।

† पां०—सबका मन समुद्र है और सुरमाया नदी है।

कभी वनकी रुचि घरकी रुचिको दबा लेती है और कभी घरकी रुचि वनकी रुचिको। उधरका मारा इधर, इधरका मारा उधर जाता है। शान्त नहीं होता। [सरित-सिन्धु-सङ्गममें जलकी द्विविध गति हो जाती है, एक स्वाभाविक गति, दूसरी उलटी गति। जब समुद्र दाब देता है, समुद्रका जल कोसोंतक नदीमें घुस आता है, उस समय नदीकी उलटी गति हो जाती है। इसी भाँति देवताओंके मायाके बलसे कभी अवधवासियोंके मनकी गति उलटी हो जाती है, तब घर अच्छा लगने लगता है, और जब गति स्वभावपर आ जाती है, तब वन अच्छा लगता है। (वि० त्रि०)। पाँड़ेजीका मत है कि सबका मन समुद्र है और सुरमाया नदी है।]

टिप्पणी—२ *'एक एक सन मरम न कहहीं'* इति। कह डालें तो संतोष हो जाय, यथा—*'कहेहूँ तें कछु दुख घटि होई'*। नहीं कहते क्योंकि लज्जा लगता है कि दूसरा क्या कहेगा! हँसेगा कि अरे! श्रीरामजीको छोड़ घरकी चाह है, तुमको धिक्कार है।

टिप्पणी—३ *'लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू।'''''* इति। 'कृपानिधान' हैं, जानते हैं कि सब हमारे प्रेममें पगे हैं और यह कुत्ता-सरीखा बिना कारण भोंकता-गुर्राता काटनेको दौड़ता है; समझता है कि श्रीरामचन्द्रजीको छीन न ले जायँ। उनके दुविध मनोगतिको देखकर उनपर दया आयी, इसीसे हास्यरससे इन्द्रको ऐसा कह डाला। भाव यह कि पाणिनिने बहुत खूब किया जो इन तीनोंको एक सूत्रमें गुह दिया, सत्य ही इनका स्वरूप एक-सा है *'सरिस स्वान'*, यथा—*'सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान निरखि मृगराज। छीनि लेइ जनि जान जड़ तिमि सुरपतिहि न लाज॥'* (१। १२५) देखिये। इन्द्रको लज्जा नहीं, उसे सदा शंका ही बनी रहती है। जवान मनुष्य कामी होता है और *'जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं॥'* (१।१२४।८) ये तीनों स्वार्थी व्यवहारमें समान हैं। '**यौवनं धनसंपत्तिर्मूर्खत्वमतिलोभता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥**' इस सुभाषितके अनुसार सुरराजके पास यौवन, धनसंपत्ति और अति लोभता—ये तीनों हैं ही तब वह कितना अनर्थकारक होगा यह कहना कठिन है। (प० प० प्र०)

वै०—सरिसका भाव कि कुत्ता निर्हेतु जीवोंका घात करनेवाला है, जवान मदान्ध होता है वैसे ही मघवान शङ्कारहित है।

* 'सरिस स्वान मघवान जुबानू' *

वंदनपाठकजी, वि० टी०—पाणिनीके व्याकरणके '**श्वयुवमघोनामतद्धिते**' का भाव यह कि तीनोंकी बनावट (प्रकृति, रूप) एक-सी होनेसे ये एक सूत्रमें रखे गये। इसी आशयको किसी कविने हास्यरसकी रीतिपर यों कहा है—

'काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे नार्यो निग्रथ्नन्ति च चित्रमेतत्।
स शास्त्रकृत् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥

अर्थात् स्त्रियाँ काँच, मणि और सुवर्णके गुरियोंको एक ही सूत्रमें गुह देती हैं तो कुछ आश्चर्यकी बात नहीं क्योंकि देखनेमें आता है कि शास्त्र जाननेवाले बड़े वैयाकरणी पाणिनिने भी श्वान्, युवान् और मघवान्को एक ही सूत्रमें लिखा है।* भाव यह कि स्वल्प मूल्यका काँच, मूल्यवान् मणि और बहुमूल्यका सुवर्ण तीनों एक ही सूत्रमें पिरोनेसे समान समझे गये। इसी प्रकार क्रमानुसार काँचतुल्य श्वान्, मणितुल्य युवान् और सुवर्णतुल्य इन्द्र भी समान समझे गये। इससे स्पष्ट है कि तुलसीदासजीने संस्कृत व्याकरणका अध्ययन किया था। इसी हेतु हास्यकी रीतिपर इन्द्रको श्वान्के तुल्य कहनेमें पूर्ण बुद्धिका चमत्कार दर्शाया।

---

* वन्दन पाठकजीके श्लोकमें कुछ भेद है, उन्होंने यह दिया है—'काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नन्ति बाला किमु तत्र चाद्भुतम्। अशेषवित् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह॥' अन्यच्च कारिकायाम्॥

कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुरपति छल भारे॥ १॥
सभा राउ गुरु महिसुर मंत्री। भरत भगति सब कै मति जंत्री॥ २॥
रामहिं चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से॥ ३॥
भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥ ४॥

शब्दार्थ—**जंत्री**—यन्त्र=ताला। जन्त्री=ताला लगा दिया, बाँध दिया, बंद कर दिया, यथा—*'लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहिं केहि बाट'*—(सुं०) **सिखेसे**=सिखाये-पढ़ाये हुए, स्वाभाविक नहीं। **नति**=नम्रता। **लिखेसे**=*'चित्र लिखित कपि देखि डेराती।'* (६०।४) देखिये।

अर्थ—दयासागर श्रीरामजीने लोगोंको अपने स्नेह और देवराजके भारी छलसे दुःखी देखा॥ १॥ सभा, राजा, गुरु, ब्राह्मणों और मन्त्रियों सभीकी बुद्धिपर श्रीभरतजीकी भक्तिने ताला लगा दिया है (अर्थात् किसीकी बुद्धि कुछ काम नहीं देती कि क्या कहा या किया जायगा)॥ २॥ सब लोग लिखे हुए चित्र (तसवीरकी तरह एकटक बिना पलक मारे) के समान श्रीरामजीको देख रहे हैं और वचन सिखाये हुएके समान बोलते हुए सकुचा रहे हैं॥ ३॥ श्रीभरतजीकी प्रीति, नम्रता, विनय और बड़ाई सुननेमें सुखदायक है पर वर्णन करनेमें कठिनता है॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कृपासिन्धु लखि·····'*—कृपाके समुद्र हैं। सबपर कृपा है। इसीसे दया आयी।

टिप्पणी—२ *'भरत भगति सब कै मति जंत्री'* इति। सामान्य लोग देवमायासे मोहित हुए और जो विशेष हैं उनकी मतिको भरतकी भक्तिने बंद कर दिया, उनकी बुद्धिपर ताला-सा लगा दिया अर्थात् सबकी मति बँध गयी, सब भरतकी भक्तिको मनसे सराहते हैं, वचन बोलनेमें सकुचते हैं, कोई बोल नहीं सकते। जैसे इस दरबारके प्रारम्भमें श्रीरामजीके *'राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥'* इन वचनोंको सुनकर सब भरतका मुख देखने लगे थे, यथा—*'रामसपथ सुनि मुनि जनक सकुचे सभा समेत। सकल बिलोकत भरतमुख बनइ न ऊतरु देत॥'* (२९६) इत्यादि। वैसे ही श्रीभरतजीके वचन सुनकर यहाँ सब मौन हैं और *'रामहि चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से॥'*

नोट—१ *'चित्र लिखे से',—'राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देखि।'* (१। २६०) देखिये। श्रीरामजीपर सबकी एकटक दृष्टि है कि देखें वे क्या आज्ञा देते हैं।

नोट—२ *'सकुचत बोलत बचन सिखे से'* इति। (क) पं०—संकुचित होकर लज्जितसे वचन बोलते हैं। लज्जित होकर बोलनेका भाव कि हम लोग क्या सोचते थे कि श्रीरामजीको लौटा लावेंगे या साथ ही वनको जावेंगे सो एक भी न हुआ। (ख) दीनजी—संकुचित होते हैं और सिखाये हुएके समान वचन बोलते हैं अर्थात् ऐसी बातें बोलते हैं मानो उन्हें रटकर आये हैं। (ग) वै०—प्रतिमा-सरीखे देख रहे हैं और देवमायावश मनकी उच्चाटनगतिको विचारकर बोलते सकुचते हैं और बोलते हैं तो सिखे-ऐसे वचन बोलते हैं अर्थात् मनमें घरकी लगी है; मुखसे साथ रहनेकी कहते, सो बनता नहीं।

गौड़जी—जो लोग देवमायासे बचे थे और सचेत थे वह भरतजीकी वक्तृता सुनकर अवाक् हो गये, कहनेके लायक कोई बात रह नहीं गयी, भरतजीने कुछ छोड़ा नहीं। भरतकी भक्तिने सबकी अकलपर ताला लगा दिया। अब किसीकी मति खुलती नहीं। प्रभुका मुँह एकटक देख रहे हैं। कुछ कह नहीं सकते। भरतने जो कुछ कहा उससे अधिक उचित कोई कह नहीं सकता। अगर वही बात दोहरायी जाय तो सीखी-पढ़ी-सी बात लगे। इसीलिये कुछ कहते सकुचते हैं।

टिप्पणी—*'भरतप्रीति नति बिनय बड़ाई।·····'* इति। प्रीति तो आद्योपान्त स्पष्ट है, नम्रता कैसी कि श्रीरामजी पयादेपाँव गये हमको सिरके बल चलना उचित है। विनती और बड़ाई प्रयागमें देख लीजिये कि निजधर्म त्यागकर तीर्थराजसे रामप्रेमकी याचना की, प्रयागमें धन्य-धन्यकी ध्वनि छा गयी यह बड़ाई है। ये चारों बातें पूर्ण भरतचरित्रमें भरी पड़ी हैं। इनको सुनकर सुख होता है पर कहना कठिन है।

जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेम मगन मुनिगन मिथिलेसू॥ ५॥
महिमा तासु कहइ किमि तुलसी। भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी॥ ६॥
आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी॥ ७॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मति गति बाल बचन की नाईं॥ ८॥

शब्दार्थ—'हुलसना'—स्फुरित, उत्पन्न और आनन्दित एवं उत्साहित होना। **कबिकुल**=कविसमाज, कविपरम्परा। **कानि**=मर्यादा।

अर्थ—जिसकी कणमात्र भक्तिको देखकर मुनिगण और मिथिलापति राजा जनकजी प्रेममें मग्न हो गये हैं उसकी महिमा तुलसी क्योंकर कहे? भक्तिके स्वभावसे एवं उनकी स्वाभाविक भक्तिसे (मेरे) हृदयमें सुमति हुलस रही है॥ ५-६॥ (परंतु) अपनेको छोटी और महिमाको बड़ी जानकर कविसमाजकी मर्यादाको समझकर सकुच गयी॥ ७॥ रुचि बहुत है पर गुणोंको कह नहीं सकती। बुद्धिकी गति बालवचनकी तरह हो रही है (अर्थात् जैसे बालक कुछ कहना चाहता है पर वचनोंद्वारा मनकी बात कह नहीं सकता)॥ ८॥

नोट—१ *'भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी।.......'* इति। (क) शिला—भक्तिका यह स्वभाव है कि भक्तसे रहा नहीं जाता, वे कुछ-न-कुछ रामयश कहा करते ही हैं, उनसे चुप नहीं रहा जाता। यथा—*'कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोर निरत संसारा॥ जेहिं मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥ समुझत अमित राम प्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई॥ सारद सेस महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥ १२॥ सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥ तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥'* उसीके भक्तिके प्रभावसे स्वाभाविक ही हमारे हृदयमें सुन्दर बुद्धिका प्रकाश हुआ और उसे उत्साह हुआ कि कुछ कहे। (शीला) (ख) जैसे पूर्व श्रीरामचरितमानस प्रारम्भ करनेके समय*'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥'* (१।३६।१) वैसे ही यहाँ *'भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी'*। पर वहाँ 'रामचरितमानस' के कवि हुए रामचरित कहा और यहाँ भरत-महिमा नहीं कह सकते।

पंडितजीके दो खर्रोंमें 'प्रभाव' पाठ है। उसका अर्थ यह किया है कि 'भक्तिके प्रभावसे मेरे हृदयमें सुमति उल्लसित हुई अर्थात् भक्तिके प्रभावसे ही मैंने कहनेका साहस किया, कुछ अपनी 'जानपनी' के प्रभावसे नहीं।'*भक्ति भावसे हुलसी और कविकुल कानिसे सकुची।'*

पं०—*'कहै किमि'* कैसे कहे। जो कहो कि नहीं कह सकते तो चुप रहो उसपर कहते हैं—*'भगति सुभाय.......'*।

पु० रा० कु०—*'मति गति बाल बचन* की नाईं—बालकको बड़ी प्रबल इच्छा होती है कि वह अपनी रुचि कहे पर बोला नहीं जाता, कहना कुछ चाहता है निकलता कुछ और है जो सुननेवालेको समझ ही नहीं पड़ता।

वैं०—भक्तिका यह प्रभाव है कि ऊँच-नीच किसीके हृदयमें आवे तो उसकी बुद्धिको निर्मल कर देती है उसीके स्वभावसे मेरी भी बुद्धि कहनेको आनन्दसे उमँगी। पर कविकुलकी मर्यादा समझकर सकुच गयी। मर्यादा यह कि जिसे विधि-हरि-हर-शेष-गणेश-शारदा आदि न कह सके उसका कहना हमको उचित नहीं। [प्रभाव पाठ पां० और वैं० ने दिया है। पर 'सुभाय' (स्वभाव) पाठसे भी ये भाव कहे जा सकते हैं।]

दो०—भरत बिमल जसु बिमल बिधु सुमति चकोरकुमारि।
उदित बिमल जन हृदय नभ एकटक रही निहारि॥ ३०३॥

अर्थ—श्रीभरतजीका निर्मल यश निर्मल चन्द्रमा है, (कविकी) सुमति चकोरकुमारी है जो निर्मल जनोंके निर्मल हृदयरूपी आकाशमें उस यश-चन्द्रको उदित देखकर एकटक देखती रह गयी॥ ३०३॥

नोट—१ श्रीभरतजीका निर्मल यश, निर्मल चन्द्र है, अन्य भक्तोंका यश तारागण हैं। सुमति चकोरकुमारी और विमल जनहृदय निर्मल आकाश है। *'मति'* को यहाँ सुमति कहा, क्योंकि भक्त-शिरोमणिके निर्मल यशका चिन्तन, अवलोकन कर रही है और पूर्व कहनेको लालायित भी हुई थी। जब कह सकनेमें असमर्थ हुई तब केवल *'मति'* शब्द दिया था, यथा—*'भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी'* और *'मतिगति बालबचन की नाईं।'* २ (क) पूर्व *'मतिगति'* को *'बालबचन'* सम कहा। यहाँ उसी विचारसे 'चकोरकुमारी' से उपमा दी। कन्या और भी अधिक असमर्थ और सुकुमारी होती है वह अधिक शिथिल भी होती है। सुमति स्त्रीलिङ्गके लिये स्त्रीलिङ्गकी उपमा भी उचित है। (ख) पंजाबीजी लिखते हैं कि जैसे चकोरी चन्द्रमाका पार नहीं पा सकती, एकटक दर्शन करके ही प्रसन्न होती है, वैसी ही मेरी बुद्धि भरतयशका पार नहीं पा सकती, मनमें उसका दर्शन करके ही प्रसन्न हो रही है। (ग) ग्रन्थमें चकोरीके चन्द्रमाको देखनेका प्राय: जहाँ-जहाँ उल्लेख हुआ है वहाँ-वहाँ ये बातें दिखायी हैं—शरीरका शिथिल होना, एकटक देखते रहना और सुख पाना, यथा—*'थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहू परिहरीं निमेषें॥ अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥'* (१। २३२। ५-६) *'सियमुख ससि भये नयन चकोरा॥ भये बिलोचन चारु अचंचल।''''देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥'* (१। २३०। ३—५) वैसे ही यहाँ भी बुद्धिका स्तब्ध होकर एकटक हृदयनेत्रोंसे उस यशका दिव्य दर्शन करते रहनेका आशय है। अधिक लुब्ध हो गयी है, मोहित हो गयी है, कुछ कह नहीं सकती, मन, बुद्धि, चित्त सब उसीमें लगे हैं और वह आनन्दमें मग्न हो रही है।

(घ) यश निर्मल है इससे जन, हृदय और नभ तीनोंको निर्मल कहा।

वै०—'चन्द्रमामें १६ कलाएँ हैं, वैसे ही इस यशचन्द्रमें सौलभ्य, गाम्भीर्य, क्षमा, दया, करुणा, सौशील्य, उदारता, सौहार्द, चातुर्य, प्रीति, कृतज्ञता, ज्ञान, नीति, अनुराग, सन्तोष और शान्ति आदि गुण हैं। बुद्धि उस यशमें आसक्त है।'

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥ १॥
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीयराम पद होइ न रत को॥ २॥
सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥ ३॥

शब्दार्थ—**चापलता**=चंचलता, ढिठाई। **बाम**=विमुख, खोटी, भाग्यहीन।

अर्थ—श्रीभरतजीके स्वभावका वर्णन वेदोंको भी सुगम (आसान, सहल बात) नहीं है, मेरी तुच्छ बुद्धिकी चंचलताको कवि क्षमा करें॥ १॥ श्रीभरतजीके सद्भावको कहते-सुनते श्रीसीतारामजीके चरणोंमें कौन अनुरक्त न होगा? (अर्थात् जो कोई भी कथन या श्रवण करेगा उसको अनुराग हो जायगा)॥ २॥ श्रीभरतजीका स्मरण करनेसे जिसको श्रीरामप्रेम सुलभ न हुआ, उसके समान भाग्यहीन कौन होगा?॥ ३॥

☞ यह भरतके सद्भावके वक्ताओं और श्रोताओंको आशीर्वाद है।

नोट—*'छमहूँ'*—क्षमाकी प्रार्थना क्यों करते हैं, न कहते। उसीपर कहते हैं कि *'कहत सुनत'''।'* अर्थात् मैं इससे कहता हूँ कि इसके कहने-सुननेसे मुझमें अवश्य रामप्रेम जागेगा। (वै०) ऐसा हुआ भी, यह स्वयं कहा है, यथा—*'सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।''''''दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को। कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥'* (३२६)

देखि दयाल दसा सब ही की। राम सुजान जानि जन जी की॥ ४॥
धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥ ५॥

देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥६॥
बोले बचन बानि सरबसु से। हित परिनाम सुनत ससिरसु से॥७॥

शब्दार्थ—**सरबसु**=सर्वस्व, जो कुछ अपना हो वह सब, किसीकी सारी सम्पत्ति, सब कुछ वाणीके सर्वस्व अर्थात् सरस्वतीकी सब कुछ पूँजी यही है इससे अन्य कुछ नहीं।

अर्थ—कृपालु और सुजान श्रीरामजीने सभीकी दशा देख और अपने भक्तके हृदयकी जानकर॥४॥ धर्मधुरन्धर धीर, नीतिमें चतुर (दक्ष, निपुण), सत्य, स्नेह, शील और सुखके समुद्र॥५॥ नीति और प्रीतिके पालनेवाले रघुनाथजी देश, काल, समय और समाजको समझकर (उसके अनुसार)॥६॥ वचन बोले जो वाणीके सर्वस्वके समान थे, अन्तमें हितकारी और सुननेमें अमृत-सरीखे थे॥७॥

नोट—१ भरतभाषण-प्रसंग और उसका प्रभाव *'तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिनसे।'* (३०१) पर समाप्त कर फिर इन्द्रकी कुचाल एक दोहेमें कही—*'देखि दुखारी दीन.....'* से *'लागि देवमाया सबहि.....'* तक। फिर *'कृपासिंधु, लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुरपति छल भारे॥'* कहकर छोड़ा हुआ प्रसङ्ग उठाया किंतु फिर भरतकी भक्तिकी महिमासे मुग्ध हो उसका स्वरूप कहने लगे। *'सुमिरत भरतहिं प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बामको॥'* अर्धाली ३ तक यह कहकर अब उसी जगहसे फिर उठाते हैं। ऊपर जो *'कृपासिंधु लखि लोग दुखारे'* कहा था। यहाँ उसीको *'देखि दयाल दसा सबही की'* से फिर उठाते हैं।

टिप्पणी—१ *'राम सुजान जानि जन जी की॥.....'* इति। (क) सुजान हैं अतः अपने सेवकके मनकी जानते हैं। जाननेमें सुजान विशेषण दिया। (ख) *'धरम धुरीन.......'*—बोलनेमें प्रथम 'धर्मधुरीण' विशेषण देकर जनाया कि इस भाषणमें परमधर्म (पितावचनपालन) को ही निबाहनेका निश्चय करेंगे, और प्रथम इसी धर्मका निर्वाह भाषणमें भी कहेंगे, यथा—*'मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥ सो तुम्ह करहु करावहु मोहू।'* (३०६। २) धर्मधुरीण आदि सात विशेषण देकर 'सागर' पद अन्तमें लिखकर इनको सप्तप्रधान-समुद्रवत् अपार और अगाध जनाया। धर्मधुरीण आदिके भाव पूर्व बहुत ठौर आ चुके हैं वही यहाँ ग्रहण कर लें। सूक्ष्मतः भाव यह कि पितावचन रखेंगे, सङ्कट सहनेमें धीर हैं, नीतिकी भी रक्षा करेंगे, अपना वचन भी सत्य करेंगे, सबका प्रेम और शील भी न टूटेगा और आनन्दसिन्धु हैं, अतः स्वयं भी इस आज्ञाको देकर विशेष सुखी ही रहेंगे, वियोगमें भी दुःख न मानेंगे। (२५४। २—७) और २९२ इत्यादि देखिये। (ग) *'देसु कालु'* आदिके भाव पूर्व आ चुके हैं।

टिप्पणी—२ *'बोले बचन बानि सरबसु से।.....'* इति। वाणीका सर्वस्व धन यही है अब इससे अधिक वाणी नहीं है। सरस्वतीका सर्वस्व सिद्धान्त इसमें आ गया। सुननेमें चन्द्रमाके सार अमृतके समान मधुर, पालक और आह्लादकारक हैं और परिणाममें हितकर हैं। ये दोनों गुण इनकी वाणीमें हैं। जिस वाणीमें परिणाममें हित होता है वह प्रायः सुननेमें कठोर होती है, यथा—*'बचन परमहित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर प्रभु थोरे॥'* (६। ९। ९) 'सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः। अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥' (वाल्मी० ३। ३७। २) (रावणसे मारीचने कहा है कि अप्रिय पर हितकारी वचन बोलने तथा सुननेवाले लोग दुर्लभ हैं) और, जो वचन सुननेमें मधुर होते हैं वे परिणाममें प्रायः दुःखद होते हैं, यथा—*'सुनत नीक आगे दुख पावा। सचिवन्ह अस मत प्रभुहि सुनावा॥'* (६। ९। ४) [सर्वस्व अर्थात् शृङ्गार है। (दीनजी)]

श्रीरामजीका भाषण

तात भरत तुम्ह धरमधुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥८॥
दो०—करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमय किमि कहि जात॥३०४॥

शब्दार्थ—**बिद**=जाननेवाला, ज्ञाता, पण्डित।

अर्थ—हे तात भरत! तुम धर्मधुरन्धर हो, लोक और वेद (दोनों) के ज्ञाता और प्रेममें प्रवीण हो॥ ८॥ हे तात! कर्म, वचन और मनसे निर्मल तुम्हारे समान तुम्हीं हो। बड़ोंके समाजमें और ऐसे कुसमयमें छोटे भाईके गुण कैसे कहे जा सकते हैं?॥ ३०४॥

पु० रा० कु०—समझदार और सत्पुरुषोंकी रीति है कि जिसका जैसा अधिकार होता है वैसी ही उसकी बड़ाई करके वचन बोलते हैं। इसी तरह श्रीभरतजीकी प्रशंसा करते हुए प्रभुने भाषण प्रारम्भ किया।

नोट—१ भरतजीने अपने भाषणमें प्रभुकी बड़ाई और अपनी बुराई, प्रभुके गुण और अपने दोष कहकर आज्ञा माँगी। भाषणभरका सार यही है जो उन्होंने *'स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाँई। मोहि समान मैं साँइ दोहाई॥' 'सोक सनेह कि बाल सुभाये।'''''* इत्यादि कहा है, उसीपर श्रीरामजीने पहले उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि तुममें अवगुण कहाँ, तुम तो मन-कर्म-वचन तीनोंसे निर्मल हो, तुम्हारे समान विशुद्ध मन-कर्म-वचनवाला दूसरा है ही नहीं। श्रीभरतजीके *'स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाँई'* आदिकी जोड़में *'तुम्ह समान तुम्ह तात'* ये वचन हैं। धर्मधुरीण आदिके भाव पूर्व आ चुके हैं।

नोट—२ *'गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमय'''''* इति। पं०—भाव कि एक तो गुरुजनोंका समाज है। इसमें अधिक बोलना अनुचित, उसपर भी छोटे भाईका गुण (जो पुत्रके समान होता है) सारे समाजमें भाईके मुखपर कहना यह तो नीतिविरुद्ध भी है और फिर यह दु:खका समय है, इसमें यथार्थ कोई कह भी नहीं सकता। मिलान कीजिये—*'लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥'* (२५९। ७) *'अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा॥'* (२८३। ७)

जानहु तात तरनिकुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥ १॥
समउ समाजु लाज गुरजन की। उदासीन हित अनहित मन की॥ २॥
तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥ ३॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर अनुसारा॥ ४॥

अर्थ—हे तात! तुम सूर्यकुलकी रीति, सत्यप्रतिज्ञ पिताकी कीर्ति और प्रीति एवं रघुकुल-कीर्तिमें उनकी प्रीतिको जानते हो॥ १॥ समय, समाज, गुरुजनोंकी लज्जा, उदासीन, मित्र और शत्रुके मनकी, सभीका कर्तव्य और अपना एवं मेरा परमहित और परम धर्म तुमको मालूम है॥ २-३॥ मुझे सब प्रकार तुम्हारा भरोसा है तो भी समयके अनुसार (कुछ) कहता हूँ। अर्थात् तुम्हें समझाने या तुमसे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं थी॥ ४॥

नोट—*'तरनिकुल रीती'*, यथा—*'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचनु न जाई॥'* (२८। ४) **'सत्यसंध पितु कीरति प्रीती'**, यथा—*'राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥'* (२६४। ६) *'सब प्रकार भूपति बड़ भागी।'''''तजे रामु जेहि बचनहि लागी॥ तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥ नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवाना॥'* (१७४। १-४) इत्यादि जो वसिष्ठजीने अवध-दरबारमें कहा था वही भाव यहाँ है। इसका सारांश यही है कि पिताके वचनोंका पालन करो, यही आगे स्पष्ट कहेंगे। तुम भी कुलकी कीर्तिमें प्रीति करो। 'पितुकीर्ति, यथा—*'जिअन मरन फलु दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जस छावा॥ जियत राम बिधुबदन निहारा। रामबिरह करि मरन सँवारा॥'* (१५६। १-२)

* समउ समाज लाज गुरजन की।''''' इति। *

गौड़जी—यहाँ माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों भावोंसे भरतजीको समझाया गया है। व्यंग्यसे दोनों पक्षोंके अर्थ बहुत विशद रीतिसे निकलते हैं।

माधुर्यपक्षसे यह बताया है कि भरतजी! तुमको यह अच्छी तरह मालूम है कि सूर्य-वंशजकी क्या रीति है। प्राण देते हैं पर वचन नहीं पलटते। यह वंश सत्यसंध है। हम लोगोंके पिता भी सत्यसंध थे। इस कुलमें पुत्र पिताकी कीर्तिमें प्रीति रखता है। उसकी सत्यसंधताकी रक्षा करता है। हम लोगोंके पिता सत्यसंध थे, कीर्तिमान् थे और उन्होंने प्रेमपणका भी निर्वाह किया है। हमें भी उनकी कीर्तिकी रक्षा करनी चाहिये। तुम यह भी जानते हो कि हमारे, तुम्हारे और सबके लिये कैसा कठिन समय उपस्थित है? राजाके बिना राज्य रक्षाहीन हो रहा है। तुम समाजका हाल भी जानते हो। जब दण्डनीति नहीं रहती, तब समाज उच्छृङ्खल हो जाता है। यहाँ हम, तुम और दो राज्योंकी बागडोर हाथमें रखनेवाले सभी मौजूद हैं। इनके अपने राजमें उपस्थित न रहनेसे समाजका अकल्याण है, हमें अपने पूर्वजोंकी लाज रखनी चाहिये। अपनी कुप्रबन्धतासे राजको बिगाड़ना नहीं चाहिये। यहाँ जो गुरुजन मौजूद हैं वह लोग भी हमारा-तुम्हारा मुँह देखते हैं। उनकी भी लाज रखनी जरूरी है। तुम यह जानते हो कि जो लोग तटस्थ हैं उनकी प्रवृत्ति हमारी प्रजाकी ओर क्या है, वह बने चाहे बिगड़े, उन्हें परवाह नहीं। जो हमारे हित हैं वे प्राय: यहाँ मौजूद हैं। उनके यहाँ रहते प्रजाकी रक्षा नहीं हो सकती। तुम यह भी जानते हो कि शत्रु लोग सदा अवसर ढूँढ़ते रहते हैं और हमारे कुप्रबन्धसे लाभ उठा सकते हैं। तुमको सबके कर्तव्य मालूम हैं। मेरा कर्तव्य वनवास और तुम्हारा कर्तव्य राज्य है। दोनोंका कर्तव्य पिताकी आज्ञाका पालन है। इसीमें हमारा-तुम्हारा परम हित और परम धर्म है। मुझे तो सब तरहसे तुम्हारा भरोसा है कि तुम सब कुछ जानते ही हो तो भी इस अवसरपर मैं कर्तव्य समझकर कुछ कहता हूँ।

ऐश्वर्य-पक्षमें इन्हीं चारों अर्द्धालियोंका अर्थ इस प्रकार होगा—

'हे तात! तुम अपने कुलकी रीति जानते हो। जिस कुलमें हम-तुम अवतरे हैं उसकी रीति तारनेवाली है। मँझदारमें डुबानेवाली नहीं है। इस कुलकी रीति यही है कि पिताकी कीर्तिमें पुत्रोंकी प्रीति हो। पिता सत्यसंध थे। हमलोगोंको भी सत्यसंध होना जरूरी है। देखो तो हम-तुम देवताओंको वचन देकर अवतरे हैं। उनसे हमने जो कुछ निश्चय (समय) कर रखा है, हमने उन्हें जो अवधि (समय) दे रखी है, जो उन्हें आदेश (समय) दिया गया है और जो उन्हें व्रत (समय) बताये गये हैं, जो उन्हें लक्षण (समय) समझाये गये हैं और जिस प्रकार उनको सांसारिक अभिनयमें दु:खोंका अन्त (समय) बतलाया गया है वह सब तुम जानते हो। वह समाज जो जगह-जगहपर वनचारीरूप धारण करके प्रतिज्ञातसंघ (समय-समाज) बनाये हुए हमारी बाट जोह रहा है उसे भी तुम खूब जानते हो। ऋषि, मुनि और भक्तलोग जो कष्ट उठा रहे हैं और जो दुष्टोंद्वारा अप्रतिष्ठित, अपमानित और अनादृत हो रहे हैं उन सबकी लाज भी रखनी है। यह भी तुम खूब जानते हो कि शत्रु, मित्र, उदासीन सबका उद्धार करना है। राक्षसादि जो हमारे शत्रु हैं, देवतादि जो हमारे मित्र हैं और इन दोनोंके परस्पर झगड़ोंसे बीचमें पिसनेवाले हमारे ऐसे भक्त जो निश्चेष्ट हैं जो बेचारे चुपचाप दु:ख उठाते हैं, खनिज, उद्भिज्ज, अण्डज और पिण्डज सब प्रकारके हमारे तटस्थ भक्त, सबके मनकी बात तुमको खूब मालूम है। तुम्हें सबका कर्तव्य मालूम है कि किसे-किसे क्या-क्या करना है? और तुम यह भी जानते हो कि तुम्हारा परम हित और परम धर्म किसी-न-किसी तरह राज्य सँभालनेमें है और मेरा परम हित और परम धर्म भलोंकी रक्षा, बुरोंका संहार, देवताओंके संगठनमें उचित आदेश देना और रावणादिका वध करना है। हमारा-तुम्हारा परम धर्म इसीमें है जिसे तुम खूब जानते हो। तुम्हारी इस जानकारीका मुझे बड़ा भरोसा है। यह अवसर ऐसा नहीं है कि सारी बातें मैं तुमसे खोलकर कहूँ। इसीलिये तुम्हारी जानकारीपर भरोसा करके अवसरानुकूल कुछ कहता हूँ;।

पु० रा० कु०—'*आपन मोर परम हित धरमू।*......' अर्थात् पिताके वचनका पालन दोनोंका परम धर्म है और इसीमें दोनोंका परम हित है; अत: हम-तुम दोनों उसका पालन करें। '**आपन मोर**' दीपदेहली

है। '*सबही कर करमू*' से अपना और भरत दोनोंका भी कर्तव्य सूचित कर दिया। देवताओंका कष्ट-निवारण, पृथ्वीका भार-उद्धरण कर्तव्य है।

नोट—'*अवसर अनुसारा*'—सब चाहते हैं और तुम भी चाहते हो कि मैं कहूँ, अत: कहता हूँ।

शिला—'युवाका समय है, समर युवामें ही बन पड़ता है। समाज देवताओंका है, सब राह जोह रहे हैं, यथा—'*गिरि कानन जहँ तहँ भरपूरी। रहे निज निज अनीक रचि रूरी॥ हरि मारग चितवहिं रन धीरा॥*' घर लौटनेसे समाज गड़बड़ हो जायगा। गुरुजन जो आजतक कुलमें हो गये उनका लाज, क्योंकि कोई झूठ नहीं बोला, हमने ब्रह्माको भार उतारनेका वचन दिया है। पुन: लोकमें तीन भाव शत्रु-मित्र-मध्यस्थ होते हैं। तामसी जीव वैरभाव रखकर तरते हैं, उदासीन जड़-जीव-वैर और प्रीतिमें असमर्थ हैं केवल ईश्वर-कृपासे तरते हैं और रजोगुणी मनुष्योंमें राम प्रकट ही हुए हैं सो तुम विष्णुरूप हो जानते ही हो।

तात तात बिनु बात हमारी। केवल कुलगुरु* कृपा सँभारी॥५॥
नतरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहिं सहित सबु होत खुआरू॥६॥
जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू॥७॥
तस उत्पातु तात बिधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सबु लीन्हा॥८॥

शब्दार्थ—**खुआरू** (ख्वार फारसी शब्द है=जलील, खराब, अप्रतिष्ठित)=दुर्दशाग्रस्त, बरबाद, नष्ट। **तात**=प्रिय; पिता। **अथव**=अस्त होना।

अर्थ—हे तात! पिताके बिना हमारी बात केवल कुलगुरु वसिष्ठजीकी कृपाने सँभाल ली॥५॥ नहीं तो हमारे समेत प्रजा, कुटुम्बी, परिजन और परिवार सभीकी दुर्दशा होती॥६॥ यदि बिना समयके सूर्य अस्त हो जायँ तो संसारमें कहिये, किसको क्लेश न होगा?॥७॥ हे तात! उसी प्रकारका उपद्रव विधाताने किया पर मुनि और मिथिलेश राजा जनकजीने सबको रख लिया। (सबकी रक्षा की, सब कुछ बचा लिया)॥८॥

नोट—१ '*केवल कुलगुरु कृपा सँभारी*......' इति।—यह बात वाल्मीकीयसे स्पष्ट है। सब ऋषि और मन्त्री आदि राज्यहीन देश देखकर घबड़ा गये थे, सोचते थे कि कोई तुरंत राजा बना दिया जाय, नहीं तो इस देशमें रहना अनुचित है तब गुरु वसिष्ठने ही सबको समझाया और भरतजीको बुलवा भेजा—(वाल्मी० सर्ग ६७-६८)। भागवतमें भी यही कहा है कि राजाहीन राज्यमें प्रजा स्वेच्छाचारिणी और निरंकुश होकर पशुवत् आचरण करने लगती है; चोर आदि उपद्रव करते हैं......। यथा—'**गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्त: पशुसाम्यताम्।**' ......'**वीक्ष्योत्थितां तदोत्पातानाहुर्लोकभयङ्करान्। अप्यभद्रमनाथाया दस्युभ्यो न भवेद् भुव:॥ एवं मृशन्त ऋषयो धावतां सर्वतोदिशम्। पांसु: समुत्थितो भूरिश्चोराणामभिलुम्पताम्॥ तदुपद्रवमाज्ञाय लोकस्य वसु लुम्पताम्। भर्तर्युपरते तस्मिन्नन्योन्यं च जिघांसताम्॥ चोरप्रायं जनपदं हीनसत्त्वमराजकम्। लोकान्नावारयञ्छक्ता अपि तद्दोषदर्शिन:॥ ब्राह्मण: समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षक:। स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा॥** —(भा० ४ अ० १४। १, ३७—४१) अर्थात् राजाके अभावमें मनुष्योंको पशुओंके समान हुआ देख तथा लोगोंको भयभीत करनेवाले महान् उत्पात होते देख वे कहने लगे कि कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि अनाथ हो जानेसे पृथ्वीको दस्युओंके हाथसे पीड़ित होना पड़ा हो। मुनिगण ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उन्होंने लोगोंका धन लूटकर इधर-उधर भागनेवाले चोरोंके कारण उठी हुई बड़ी भारी धूलि देखी। राजाके न रहनेपर लोगोंका धन लूटनेवाले और एक-दूसरेको मारनेकी इच्छावाले लुटेरोंका उपद्रव जानकर और यह सोचकर कि समदर्शी और शान्तस्वभाव ब्राह्मण भी यदि दीनोंकी उपेक्षा करे तो उसका ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है उन्होंने अराजकता मिटानेका उपाय किया।

* गुरकुल (राजापुर)। कुलगुर (भा० दा०) गुरकुलका अर्थ गुरुवंश, कुलगुरु किया जाता है।

नोट—२ *'नतरु प्रजा परिजन·····'* इति। (क) 'परिवार' और 'परिजन' दोनों पर्याय हैं। यहाँ दोनोंका प्रयोग एक साथ हुआ है। इससे एक (परिजन) से 'आश्रित सेवक' और दूसरे (परिवार) से 'एक ही कुलमें उत्पन्न और परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्योंका समुदाय' का अर्थ लेना चाहिये, प्राचीन पाठ यही है पर एक ही अर्थ होनेसे जहाँ-तहाँ लोगोंने *'पुरजन'* पाठ कर दिया है। (ख) *'हमहिं सहित सब होत खुआरू'* इति। *'हमहिं'* अर्थात् मैं और तुम हम सब भाइयोंसहित। प्रथम अपने सबोंको कहा क्योंकि राजकुमार हैं, राज्यके रक्षाके अधिकारी हैं, राज्यकी रक्षा राजा होकर न करेंगे तो हमको नरक होगा, हम लोगोंका नाश होगा। यही बात पूर्व लक्ष्मणजीसे कही थी। यथा—*'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'* (७१। ६) सब अर्थात् प्रजा, परिजन और परिवार ये सब भी नष्ट हो जायँगे, क्योंकि राजाके न रहनसे राष्ट्र अनाथ हो जाता है, पिताके अधीन पुत्र नहीं रह जाते, धनी लोग द्वार खोलकर सो नहीं सकते, वे सुरक्षित नहीं रहते, व्यापारी माल लेकर बाहर जा नहीं सकते, कोई भी प्रजा सुरक्षित नहीं रहती, जिनको पूर्व राजदण्ड दिया जाता था वे शङ्कारहित होकर प्रभावशाली हो जाते हैं, किसी भी मनुष्यका कुछ भी अपना नहीं होता। सेना भी शत्रुओंका सामना नहीं कर सकती, वह स्वयं ही लूट-मार करने लगती है—यही सबका 'ख्वार' होना है। राजहीन राष्ट्र वैसा ही अशोभित होता है जैसे बिना जलकी नदियाँ, बिना गोपालके गौ, इत्यादि।—**'यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम्। अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम्॥'** (वाल्मी० २। ६७। २९) परिवारपर भी भारी दुःख पड़ेगा। यही सब बातें लक्ष्मणजीसे कही हैं। यथा—*'मैं बन जाउँ तुम्हहिं लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥ गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥ रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहिं बड़ दोषू॥'* (७१। ३—५)

नोट—३ *'जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू·····'* इति। इससे जनाया कि अभी पिता मरने योग्य नहीं थे, अभी तो तीन अवस्थाएँ बाल, कुमार, युवा ही बीती थीं, चौथापन वृद्धावस्था तो अब आ रहा था—*'श्रवन समीप भये सित केसा।'* (२। २। ७) यही सूर्यका बिना अवसर अस्त होना है। अथवा, राजाका मरण ऐसे समय होना कि जब कोई पुत्र अवधमें न था, *'बिनु अवसर'* अस्त होना है। (पं०) यहाँ 'ललित अलङ्कार' है। जैसे सूर्य बिना समय अस्त हो तो सबको संकट हो वैसे ही इनके अनवसर मृत्युसे राज्यभरपर संकट पड़ गया था (पर श्रीगुरुजीने रक्षा की)।

नोट—४ *'तस उत्पातु तात बिधि कीन्हा·······'* इति। वैसा ही उत्पात अर्थात् *'बिनु अवसर अथव दिनेसू'* का-सा। पूर्व केवल गुरुको कहा और अब मुनि मिथिलेश दोनोंको कहा। यहाँ मिथिलेशको मुनिके साहचर्यसे बड़ाई हेतु कहा, यथा—*'मोहि कृतकृत्य कीन्हि दुहुँ भाईं'* में रामजीके साहचर्यसे लक्ष्मणजीको बड़ाई दी थी—(पु० रा० कु०)। पुनः, पिताकी मृत्युपर केवल गुरु ही उपस्थित थे इसीसे *'तात बिनु·····'* कहकर प्रथम गुरुकी प्रशंसा की कि उन्होंने रक्षा की और श्रीजनकजी पीछे आये इससे यहाँ दोनोंको साथ कहा।

दो०—राजकाज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम।
गुरु प्रभाउ पालिहि सबहि भल होइहि परिनाम॥ ३०५॥
सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥ १॥
मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू॥ २॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि कुल पालक होहू॥ ३॥

शब्दार्थ—**पति**=प्रतिष्ठा, मर्यादा, साख। **प्रसाद**=प्रसन्नता, कृपा। निदेश (सं०)=आज्ञा।

अर्थ—राज्यका सब काम, लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, धरणि, धन, धाम (घर) सबका पालन गुरु-प्रभाव ही भलीभाँति करेगा और परिणाम भला होगा। अर्थात् तुम इस भारसे घबड़ाओ मत॥ ३०५॥ समाजसहित तुम्हारा और हमारा, घर और वनमें गुरुकी प्रसन्नता अनुग्रह रक्षक है॥ १॥ माता-पिता, गुरु और स्वामीका

आयसु सम्पूर्ण धर्मरूपी पृथ्वीको धारण करनेको शेषनाग (के समान) है॥२॥ वही तुम करो और मुझसे कराओ। हे तात! सूर्यकुलके रक्षक बनो॥३॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० '*राजकाज सब*……' इति (क) 'राजकाजका सँभाल करना राजाओंका धर्म है। अतएव सब राज्य-अंग गुरु—प्रभावके अधीन किये। राज-काज सब, लाज, पति, धर्म, धरणि, धन, धाम—ये सब राज्यके अंग हैं। (ख) '*गुर प्रभाउ*' और आगे '*गुरुप्रसाद*' को पालक और रक्षक कहा। भाव यह कि गुरुको भी कष्ट नहीं होगा और न गुरुको कुछ करनेकी ही आवश्यकता होगी; उनका प्रभाव, उनका अनुग्रह वा प्रसन्नता ही स्वयं सब कार्य सँभाल लेगी। मिलान कीजिये—'***भवभयभंजन नामप्रतापू***' (१।२४।६) और '*फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें॥*' (१।२५।८) ऐसा कहकर जनाया कि हमारे बिना राज-काज आदिमें कोई रुकावट न होगी।

टिप्पणी—२ '*सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन*……' यहाँ यथासंख्यालङ्कारसे अन्वय यह होगा—'सहित समाज तुम्हार रक्षक घरपर और हमारा सीताका, लक्ष्मणका और मेरा रक्षक वनमें' तुम्हारा और हमारा दोनों बहुवचन शब्द हैं। 'तुम्हारा'से अवधवासियोंसहित श्रीभरतका और 'हमारा' से श्रीसीतालक्ष्मणसहित अपना रक्षक कहा। '*गुरुप्रसाद रखवारा*' अर्थात् गुरुजीकी प्रसन्नता कृपासे प्रजासहित तुम श्रीअवधमें और हम तीनों बनमें सकुशल रहेंगे। विशेष ऊपर '*गुर प्रभाउ*' में देखिये।

टिप्पणी—३ '*मातु पिता गुर स्वामि निदेसू*……' इति। इन वचनोंसे अपनी (स्वामि) आज्ञा भी जना दी कि यही है जो माता-पिता और गुरुकी थी। '*सकल धरम धरनीधर सेसू*' का भाव यह कि जिसने इनकी आज्ञाका पालन किया वह सम्पूर्ण धर्म कर चुका। [जैसे शेषजीने एक पृथ्वीको धारण किया तो सब कुछ धारण कर चुके क्योंकि सब कुछ पृथ्वीमें है। (नं० प०) पुन: भाव कि इनकी आज्ञा माननेसे अपने धर्मका निर्वाह स्वयं हो जाता है, उसमें अड़चन पड़ती ही नहीं, क्योंकि उनकी आज्ञा ही उस धर्मको दृष्टिकोणमें रखकर होती है। (दीनजी)]

टिप्पणी—४ '*तरनि कुल पालक होहू*' इति। '*जानहु तात तरनिकुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥*' (३०५। १) देखिये। अर्थात् जिस कुलकी यह रीति है कि वचन न व्यर्थ हों चाहे प्राण चले जायँ, ऐसे कुलके पालक हो। सारांश यह कि सत्यधर्मकी रक्षा करो।

साधक* एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥४॥
सो बिचारि† सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवारु सुखारी॥५॥
बाँटी बिपति सबहि मोहिं भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥६॥
जानि तुम्हहिं मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥७॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहायें। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घायें॥८॥

शब्दार्थ—ओड़िअहिं, यथा-'*एक कुसल अति ओड़न खाँड़े*'। ओड़ना=वार रोकना, ढालका काम देना, आड़ करना, ऊपर लेना, यथा—'***दूसरि ब्रह्मकी शक्ति अमोघ चलावत ही हाय हाय भई है। राख्यो भले शरणागत लक्ष्मण फूलिके फूल सी ओड़ लई है।***'—(केशव)।=फैलाना पसारना।—'***लेहु मातु मुद्रिका निसानी दई प्रीति कर नाथ। सावधान होइ सोक निवारहु ओड़हु दक्षिण हाथ॥***'—(सूर)।

अर्थ—साधकके लिये सम्पूर्ण सिद्धियोंकी देनेवाली कीर्ति, सद्गति और ऐश्वर्यमय त्रिवेणी यह एक ही है। (दूसरी इसके समान नहीं)॥४॥ इसे विचारकर भारी कष्ट सहकर प्रजा और परिवारको

---

* राजापुर और काशीका यही पाठ है। पाठान्तर 'साधन' है। 'साधन' का अर्थ होगा कि एक साधन सब सिद्धियोंकी देनेवाली और……त्रिवेणी है। पाठक अब स्वयं देख लें कि कौन पाठ उत्तम है।

† 'विचार'-(ला० सीताराम)।

सुखी करो॥५॥ हे भाई! विपत्ति सबको और मुझको 'बाँटी' (हिस्सेमें डाली) गयी है (अर्थात् हम सबपर विपत्ति पड़ी है पर) तुमको अवधिभर बड़ी कठिनता है (हमें सबसे अधिक दुःख है)॥६॥ तुमको कोमल जानकर कठोर बात (वियोगकी) कह रहा हूँ। हे तात! कुसमय कहलाता है इससे मेरा कहना अनुचित नहीं है। (भाव यह कि बिना ऐसा कहे अब नहीं बनता इससे कहना पड़ा नहीं तो न कहता)॥७॥ कुठौरमें (आपत्ति, बुरा मौका वा गाढ़ पड़ जानेपर) श्रेष्ठ भाई ही सहाय होते हैं। वज्रकी चोट (वार) हाथ ही अपने ऊपर लेता है वा पसारा जाता है॥८॥

* 'साधक एक सकल सिधि देनी।......'*

१ गौड़जी—माता-पिताकी आज्ञा पालनेसे कीर्त्तिरक्षा, गुरुकी आज्ञा-पालनसे सद्गति और स्वामीकी (मेरी) आज्ञा-पालनसे (मेरी दिव्य देहके साथ रहनेकी) भूति (अलौकिक शक्ति) प्राप्त होगी।

२ (क) *'मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू'* उपमेय है, और त्रिवेणी उपमान है, त्रिवेणी, गङ्गा, यमुना, सरस्वती तीन मिलकर बनी है और यह त्रिवेणी कीर्ति, सद्गति और विभूतिमय है। अर्थात् आज्ञा-पालनसे कीर्ति, ऐश्वर्य (लोकसुख) और सद्गति (परलोकसुख) तीनों सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। (ख) माता-पिताकी आज्ञा गङ्गा, गुरु आज्ञा यमुना और स्वामी (अपनी) आज्ञा सरस्वती। जैसे वहाँ सरस्वती गुप्त वैसे ही यहाँ 'स्वामि' में रामाज्ञा गुप्त। (पु० रा० कु०) (ग) रा० प्र० का मत है कि महाराजकी आज्ञा सुरसरि विशिष्ट है, मिथिलेशकी यमुना है। (पर ऊपरके *'मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू'* इस चरणसे फिर सम्बन्ध नहीं रह जाता)। (घ) बैजनाथजीका मत है कि 'कीर्ति सुरसरि है, भूति यमुना है और सुगति गुप्त सरस्वती है। गुरु-आज्ञा-पालनसे कीर्ति, माता-पिताकी आज्ञासे विभूति और प्रभुकी आज्ञासे सुगति।'

पु० रा० कु०—*'सो बिचारि सहि संकटु भारी।.....'* इति।—*'संकट भारी'* क्योंकि वियोगमें बड़ा दुःख होगा इन चौपाइयोंमें भरतजीको धर्मका उपदेश करते चले आ रहे हैं। स्वयं संकट सहकर पराया हित करना यह धर्म है, यथा—*'परहित सरिस धर्म नहिं भाई', 'संत सहहिं दुख परहित लागी'।* तुमको क्लेश होगा पर प्रजा-परिवार सब सुखी होंगे, अतएव इसे करना चाहिये। *'सो बिचारि'* अर्थात् यह समझकर कि प्रजा-पालनकी आज्ञा-पालन करनेसे कीर्ति, सद्गति, ऐश्वर्य और सभी सिद्धियाँ प्राप्त होंगी। *'करहु प्रजा परिवार सुखारी'* से जनाया कि तुम घर लौट जाओ, वहाँ रहकर सबको सुख दो।

नोट—१ *'बाँटी बिपति सबहि मोहिं भाई।.....'* इति। इसके कई प्रकारसे अर्थ लोगोंने किये हैं।

वै०—विपत्ति एक हमको ही चाहिये थी, सो प्रजा, परिवार, पुरजन सभीने मिलकर बाँट ली, उनमें तुम मुखिया हो, इसलिये तुमको कठिनाई होगी क्योंकि बालक हो। (वै० का पाठ है—*'बाँटि बिपति सब ही मिलि भाई।'*)

रा० प्र०—हे भाई। हमने विपत्ति सबको बाँटी अर्थात् विपत्ति पड़नेसे हमको दुःखी होना चाहिये था सो हम दुःखी न हुए और हमारे वियोगमें सब दुःखी हुए। इससे अपनी विपत्ति औरोंको बाँटी पर तुमको १४ वर्ष बड़ी कठिनाई है। इस वाक्यसे भरतजीका अपनेमें और सबसे अधिक प्रेम जनाया। अथवा, एक तो वियोगजनित दुःखका भार दूसरे राजकाजका अतः अति कठिनाई कहा।

वीरकवि—आपने मुझसे सभी विपत्ति बाँट ली, अवधिपर्यन्त आपको बड़ी कठिनाई है।

दीनजी—यद्यपि तुम्हें इससे १४ वर्ष बड़ी कठिनाई रहेगी तो भी, हे भाई! उचित यही है कि सबको और मुझको यह बाँट दो।

पु० रा० कु०—हे भाई! विपत्ति सबको और मुझको बाँटी है अर्थात् सबपर पड़ी है, परंतु तुमको अवधिभर बड़ी कठिनाई है अर्थात् तुमको सबसे अधिक विपत्ति है।

गौड़जी—(यों तो) सभीने विपत्ति बाँट ली है। सभी दुःख उठावेंगे। सभी वियोग-दुःखसे दुःखी रहेंगे। (तदपि) हे भाई! मुझे और तुम्हें परस्पर वियोग-दुःखकी बड़ी कठिनाई उठानी है। अन्वय इस प्रकार है—'सबही (ने) बिपति बाँटी, (किंतु हे) भाई, *'मोहिं तुमहिं भरि अवधि अति कठिनाई*

(अहइ)।' साथ ही गुप्त भाव यह है कि नगरसे बाहर हम-तुम दोनों साथ रहकर अवधि काटेंगे। तुम कष्ट उठाकर रहोगे तो मेरा वियोग नहीं होगा।

वि० त्रि०—सरकार भरतजीसे कहते हैं कि मैं तुम्हें राज करनेको नहीं कहता, विपत्ति बाँटनेको कहता हूँ। सब लोगोंने विपत्ति बाँटी है, मेरे दुःखसे दुःखी हुए हैं। तुम भी दुःख सहो। तुम तो भाई हो। तुम्हारा प्रेम सबसे अधिक है, अतः तुम्हें कठिनाई अधिक है। अथवा अपनी इच्छाके प्रतिकूल कार्य करनेके लिये बाध्य किये जाते हो, इसलिये बड़ी कठिनाई है। 'अवधि भर' कहनेका भाव यह कि चौदह वर्ष बाद आकर मैं राज्य सँभाल लूँगा, इस समय तुम्हें राज्य सँभालना ही होगा।

नं० प०—श्रीरामजीने श्रीभरतजीसे कहा कि भारी संकट सहकर प्रजा और परिवारको सुखी करो, यह नहीं बताया कि कबतक ऐसा करें। वह अभी कहते हैं—*'बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई।'* अर्थात् यह करनेकी विपत्ति तो हमारे हिस्सेमें सबोंने बाँटी है, भारी कठिनाई तो हमारे ही बाँटमें है, तुम्हें तो भारी कठिनाई केवल १४ वर्षभर है। श्रीरामजीने राज्य करनेको विपत्ति कहा है, यथा—*'नव गयंद रघुबीर मन राजु अलान समान। छूट जान बन गवन सुनि उर अनंद अधिकान॥'* इसीसे वे कहते हैं कि भारी कठिनाई तो मेरे ही हिस्सेमें पड़ी है।

नोट—२ *'जानि तुम्हहिं मृदु कहउँ कठोरा।'''''''* इति। (क) *'मृदु'* का भाव कि जानता हूँ कि तुम वियोग-दुःखसे दुःखी हो, हमारा वियोग सहने योग्य नहीं हो। (ख) *'कहउँ कठोरा'*— भाव कि इतने कोमल जानकर दुःख सहने और राज्यका भार उठानेको कहते हैं, इसीसे उसे 'कठोर' कहा। (ग) कठोर बात कहना अनुचित है, उसीपर कहते हैं—*'कुसमय तात''''''''*'। अर्थात् ऐसा कुसमय ही आ पड़ा है कि ऐसा कहना पड़ा, नहीं तो न कहता। कुसमय क्या है? आपत्काल है। पिता स्वर्गको चले गये, मुझे वनवासकी आज्ञा दे गये और तुम राज्य करनेको कहते हो, दोनों बातोंका एक साथ निर्वाह कैसे हो सकता है? ऐसे कुअवसरमें एकमात्र यही कठोर उपाय हो सकता है कि तुम अवधिभर कष्ट सहकर प्रजाका पालन करो।

नोट—३ *'होहिं कुठायँ सुबंधु'''* इति। *'कुसमय तात न अनुचित मोरा'* कहकर उसीको नीतिद्वारा पुष्ट करते हैं। 'कुठौरमें श्रेष्ठ भाई ही सहायक होते हैं' यह उपमेयवाक्य है, *'ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घायें'* उपमान-वाक्य है। दोनोंमें बिना वाचकपदके बिम्ब-प्रतिबिम्बका भाव झलकना दृष्टान्त अलंकार है।

नोट—४ *'ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घायें'* इति। असनि=वज्र। घाये=घात, चोट, वार। यहाँ सुबन्धु हाथ है, कुठायँ असनिका वार है, और सहाय होना ओड़ना है। यह साधारण रीति है, स्वभाव है कि कोई वार करता हो तो उसको बचानेके लिये हाथ ही प्रथम उठता है। चाहे वह कुछ कर न सके, घायल ही हो जाय, वैसे ही गाढ़में उत्तम भाई ही काम आते हैं, बाहरवाले कोई साथ नहीं देते।

दो०—सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहि सोइ॥ ३०६॥

अर्थ—सेवक हाथ, पैर और नेत्रके समान और स्वामी मुखके समान होना चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसी सेवक-स्वामीकी प्रीतिकी रीतिको सुनकर सुकवि इस रीतिकी सराहना करते हैं॥ ३०६॥

गौड़जी—इस रूपकसे यह भी ध्वनित है कि जैसे मुख करसे कभी अलग नहीं हो सकता उसी तरह हम-तुम कभी अलग नहीं हो सकते। हमारा-तुम्हारा साथ निश्चित है।

दीनजी—भाव यह कि जिस प्रकार मुख सब योग्य पदार्थ स्वयं खा जाता है पर जिस अङ्गके लिये जो चीज दरकार होती है उसीके अनुसार उस अङ्गको उसका रस देता है, तथा हाथ, पैर और आँख भी ऐसे अङ्ग हैं कि कोई विपत्ति आनेपर पहले ये ही सहायक होते हैं, ठीक इसी प्रकार सेवक और स्वामी भी होने चाहिये तभी सब लोग उनकी प्रशंसा करेंगे और सब कार्य ठीक होगा। हे भरत! तुम राजा होकर इसी नीतिको बर्तना।

वै०, रा०, प्र०—नेत्र देखते हैं कि यह वस्तु संग्रह योग्य है तब पैर चलकर वहाँतक पहुँचाते हैं। हाथ उस पदार्थको लाकर खाने योग्य बनाकर मुखको देता है। मुख खाता है, पर स्वादमात्र लेकर उस पदार्थको सर्वाङ्ग योग्य बनाकर हाथ-पैर-नेत्र आदि सभी अङ्गोंको रसरूपसे यथायोग्य बाँटकर उन्हें पुष्ट करता है, स्वयं ही नहीं रख लेता।

पु० रा० कु०—यहाँ दिखाते हैं कि राजा और प्रजाका परस्पर कैसा सम्बन्ध और बर्ताव होना चाहिये। सेवकके बिना स्वामीका काम नहीं चल सकता। हाथ-पैर-नेत्र न हों तो मुखमें खाना कैसे पहुँचे और मुख न हो तो हाथ आदिमें रस कैसे पहुँचे। सेवकसे सेवा ले और उसे उनके ही पालन-पोषणमें लगा दे। प्रजासे कर ले और स्वयं न गड़प ले, उसे प्रजाके काममें लगा दे। कर-पद-नेत्र मुखसे कपट नहीं रखते और न मुख इनसे, यह प्रीतिकी रीति है। परस्पर ऐसा ही प्रीतिका व्यवहार सेवक और स्वामीमें होना चाहिये। एक-दूसरेमें कपट व्यवहार न रहना चाहिये।

सभा सकल सुनि रघुबर बानी। प्रेम पयोधि अमिअ जनु सानी॥ १॥
सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी॥ २॥
भरतहि भयेउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुखु दोषू॥ ३॥
(मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू)॥ ४॥

शब्दार्थ—**बिमुख**=मुख मोड़े या फेरे हुए, पीठ दिये हुए। **सनमुख**=अनुकूल।

अर्थ—प्रेम-समुद्रके (मन्थनसे निकले हुए) अमृतमें मानो सनी हुई हो ऐसी रघुवरवाणीको सुनकर सारा समाज शिथिल हो गया, सब समाजको प्रेमकी समाधि लग गयी। दशा देखकर सरस्वतीने चुप साध ली अर्थात् मौन हो गयी॥ १-२॥ श्रीभरतजीको परम संतोष हुआ, स्वामीके सम्मुख होनेसे दुःख-दोष दूर हुए॥ ३॥ मुख प्रसन्न हो गया, मनका दुःख मिट गया, मानो गूँगेपर सरस्वतीकी प्रसन्नता हो गयी। (अर्थात् जैसे गूँगा जो बोल ही नहीं सकता उसपर सरस्वतीजीकी कृपा हो जाय तो वह शास्त्रों आदिका वक्ता हो जाता है उस कृपासे गूँगेकी वाणी खुल जानेसे जैसा आनन्द होता है वैसा अतीव आनन्द भरतजीको हुआ।)॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'प्रेम पयोधि अमिअ जनु सानी'* इति। प्राकृत अमृत क्षीरसागरसे निकला है और जिस अमृतमें यह वाणी सनी है वह प्रेमरूपी क्षीरसागरका अमृत है अतः यह परमोत्कृष्ट है। परमोत्कृष्ट प्रेमामृतमें सनी है अतः उस वाणीको श्रवणपुटद्वारा पान करते हैं। सब प्रेममें समाधिस्थ हो गये, अर्थात् जड़वत् हो गये। तन, मन, वचनसे शिथिल हो गये। सबकी यह चेष्टारहित जड़वत् दशा देख शारदा मौन हो गयी।

टिप्पणी—२ *'चुप सारद साधी'* अर्थात् सबकी वाणी बंद हो गयी, किसीके मुखसे वाक्य नहीं निकलता। सब सोचते हैं कि देखें अब श्रीरामजीकी आज्ञा सुनकर श्रीभरतजी क्या कहते हैं, बिना भरतजीके बोले किसीको बोलनेका अवसर भी नहीं है; अतः सब चुप रहे।

टिप्पणी—३ *'भरतहि भयेउ परम संतोषू……'* इति। (क) श्रीभरतजीको परम प्रसन्नता हुई; क्योंकि स्वामी अनुकूल हैं। स्वामीकी अनुकूलतासे सब दुःख-दोष दूर हो जाते हैं। (ख) *'सनमुख स्वामि'* से जनाया कि ये अपनेको स्वामि-विमुख मानते थे और स्वामीको अपने प्रतिकूल होनेका सन्देह करते थे। यथा—*'हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥'* (१७८। १), *'राम लखन सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहि तजि ठाऊँ॥ मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर।'* (२३३) (ग) *'बिमुख दुखु दोषू'*—भाव कि इसके पूर्व उनको बहुत दुःख था और वे अपनेको बहुत दोषी समझते थे। दुःखका प्रमाण। यथा—*'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥'* (२१२। १) *'एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी॥'* (१८२। ६) दोष, यथा—*'महीं सकल अनरथ कर मूला।'* (२६२। ३), *'अस मैं अवगुन उदधि अगाधू', बिनु समुझे निज अघ परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू॥'* (२६१। ६) *'सो सब मोर पाप परिनामू।'* पापसे दुःख होता है, यथा—*'करहिं पाप पावहिं

दुख भय रुज सोक बियोग।' कारण और कार्य दोनों ही नष्ट हुए। मिलान करें—*'गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥'* (२६७। २) और *'धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥'* (१६४।८) से।

गौड़जी—भरतकी भक्तिसे पहले मति यन्त्रित हो गयी थी, और सिखेसे वचन बोलते-सकुचते थे। अब प्रेमामृत-सिन्धुमें मग्न हो गये। स्नेहकी समाधि लग गयी। लोग उस दशामें पहुँच गये, *'मन समेत जहँ जाइ न बानी'*, इसीलिये शारदाने चुप साधी। भरतके मनमें तो माताकी करनीसे भारी विषाद था। —*'सनमुख होइ न सकत मन मोरा।'* भगवान्‌के गुप्त भावोंको भी हृदयंगम करके अब परम संतोष हुआ, स्वामीको अनुकूल पाया, दुःखदोषको विमुख पाया, विषाद मिट गया, मुखपर प्रसन्नता झलकने लगी। हिम्मत हो गयी। गूँगेको वाणी मिल गयी। हड़कम्प मिट गया। इसीसे और सब चुप हैं। परंतु भरतजी कहने लगे—

☞ *'मुख प्रसन्न मन मिटा विषादू'''*' इति। यह अर्धाली राजापुरकी पोथीमें यहाँपर नहीं है वरन् ३०८ (९) में है। पर अन्य सब पोथियोंमें यहीं है। इसके न रहनेसे भी कोई विशेष हानि अर्थमें नहीं होती। सम्भव है कि पहले ३०८(९) में रखा हो, पीछे इसे यहाँ रख दिया हो। रा० प्र० में भी यह अर्धाली यहीं है।

गौड़जी—*'मुख प्रसन्न''''प्रसादू'* इस अर्धालीके लिये उपयुक्त स्थल यही है, ३०८ (९) में बिलकुल अप्रासंगिक है। भरतजी वहाँ बोले भी नहीं। राजापुरवाली पोथीके अप्रामाण्य सिद्ध करनेमें ऐसी असंगति सहायक है।

खर्रा—अर्थात् शारदा मौन थी, अब भरतकी वाणी खुली। पूर्व मगवासिनीके वचनोंमें आया है कि *'नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेह होइ यहि भेदा॥'* (२२२। ४) उसीकी जोड़में यहाँ कहा कि *'मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू।'* दोनों बातें अब दूर हुईं।

नोट—*'भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू'* का भाव *'मूक बदन जनु सारद छाई।'* (१। ३५०। ८) में देखिये।

कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानि पंकरुह जोरी॥५॥
नाथ भयेउ सुखु साथ गये को। लहेउँ लाहु जग जनमु भये को॥६॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करउँ सीस धरि सादर सोई॥७॥
सो अवलंब देउ* मोहि देई। अवधि पारु पावउँ† जेहि सेई॥८॥

अर्थ—श्रीभरतजीने फिर प्रेमपूर्वक प्रणाम किया और करकमल जोड़कर बोले॥५॥ हे नाथ! मुझे आपके साथ जानेका सुख प्राप्त हो गया, संसारमें जन्म होनेका फल भी मैंने पा लिया॥६॥ हे कृपालु! अब जैसी आज्ञा हो, वही मैं सिरपर धरकर आदरपूर्वक करूँ॥७॥ (पर) हे देव! मुझे वह अवलम्ब दीजिये जिसका सेवन करके अवधिका पार पाऊँ॥८॥

टिप्पणी—१ *'कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी'''''*'। इति।—बोलनेके पूर्व प्रणाम करना हाथ जोड़ना रीति है, प्रसन्नताके कारण 'सप्रेम' शब्द भी दिया। अथवा सप्रेम प्रणामसे और हाथ जोड़कर कृतकृत्यता लक्षित की। (पं०)

टिप्पणी—२ *'नाथ भयेउ सुखु साथ गये को'''''*'। इति। पूर्व प्रथम दरबारमें साथ जानेका प्रस्ताव किया था, यथा—*'नतरु फेरिअहि बंधु दोउ नाथ चलउँ मैं साथ।'''''*' (२६८)। उसीपर अब कहते हैं कि मुझे वही सुख हुआ जो उस मेरी प्रार्थनाके स्वीकार होनेसे मुझे होता, ऐसा सुख है मानो मैं साथ ही चल रहा हूँ। पूर्व अपने जन्मको व्यर्थ माना था यथा—*'जीवन लाहु लषन भल पावा। सब तजि राम चरन मन लावा॥ मोर जनम रघुबर बन लागी॥'* (१८२। ७-८) *'बादि मोर सब बिनु रघुराई।'* (१७८। ६) देखिये। *'कुल कलंक जेहि जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रिय जन द्रोही॥''''*' (१६४। ५) उसीपर अब कहते हैं कि *'लहेउँ लाहु जग जनम भये को।'*

* देव गी० प्रे०। † पावौं गी० प्रे०।

टिप्पणी—३ *'अब कृपाल जस आयसु होई।......'* इति। पूर्व रघुनाथजीने पिता-माता आदिकी आज्ञाका माहात्म्य कहा और उन्हींकी आज्ञा पालनेको कहा, अपनी तरफसे कुछ आज्ञा नहीं दी। अतएव यहाँ श्रीरामजीकी ओरसे आज्ञा मानते हैं। [पुनः, *'करउँ सीस धरि सादर सोई'* का भाव कि जिस समय आप मुझे जानेको कहेंगे मैं तुरत चला जाऊँगा। यदि कहा जाय कि आज्ञा तो दे ही चुके, अब बारबार क्या पूछना, उसपर तीन बातें कह रहे हैं कि जानेको तो मैं तैयार हूँ, पर (१) ऐसा अवलम्ब दीजिये जिससे १४ वर्षतक वियोगके कष्ट-समुद्रसे पार उतरूँ। (२) तिलक-सामग्रीके प्रति क्या आज्ञा है? (३) चित्रकूट तीर्थ दर्शनकी चाह है। (पं०)]

वि० त्रि०—अब जैसी आज्ञा हो उसे प्रसन्नतासे करूँगा। यदि अभी आज्ञा हो तो अभी चला जाऊँ, और राज्य सँभालूँ। भरतलालने कहा तो, फिर भी राजा होकर वे राज्य नहीं करना चाहते, किसी परिस्थितिमें भी अनाथ (स्वतन्त्र) रहना स्वीकार नहीं है। अतः सरकारके प्रतिनिधि रूपसे कोई अवलम्ब सरकारसे पाना चाहते हैं, जिसकी सेवा पूजा सरकारकी अनुपस्थितिमें करते रहें, और उससे आज्ञा माँग-माँगकर सब राजकाज करें।

टिप्पणी—४ 'देउ'=देव। 'देव' का भाव कि आप सत्त्वगुणयुक्त हैं, महात्मा हैं, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और बुद्धिमान् हैं, दिव्य हैं, देवताके समान हैं, हमारे इष्ट हैं। यथा—'**अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चापि राघवः॥**' (वाल्मी० २। १०६। ६) *'अवधि पार पावउँ'* कहकर अवधिको समुद्रवत् जनाया। भाव यह कि अवधिके अन्ततक जीता रह जाऊँ ऐसा कुछ अवलम्ब मिले। यह अवलम्ब आगे मिलेगा—*'भरत मुदित अवलंब लहे तें।'* (३१६। ८)

दो०—देव देव अभिषेक हित गुर अनुसासनु पाइ।
आनेउँ सब तीरथ सलिलु तेहि कहँ काह रजाइ॥३०७॥
एकु मनोरथु बड़ मन माहीं। सभय सकोच जात कहि नाहीं॥१॥
कहहु तात प्रभु आयेसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई॥२॥
चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग मृग सर सरि निर्झर गिरिगन॥३॥
प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी। आयसु होइ त आवउँ देखी॥४॥

शब्दार्थ—अनुशासन=आज्ञा। अंकित=चिह्नित, चिह्न वा निशान पड़े हुए।

अर्थ—हे देव (वा, देवोंके भी देव)! आपके तिलकके लिये गुरुजीकी आज्ञा पाकर मैं सब तीर्थोंका जल लाया हूँ। उसके लिये क्या आज्ञा होती है?॥३०७॥ मेरे मनमें एक बड़ा मनोरथ और है, जो भय और सङ्कोचसे कहा नहीं जाता॥१॥ (प्रभुने कहा कि) हे तात! कहो (क्या मनोरथ है?)। प्रभुकी आज्ञा पाकर वे स्नेहसे सुशोभित सुन्दर वाणी बोले॥२॥ चित्रकूटके पवित्र स्थल, तीर्थ, वन-पक्षी, पशु, तालाब, नदी, झरने, पर्वतोंके समूह और खासकर प्रभुके चरणचिह्नोंसे विशेषरूपसे अङ्कित यह पृथ्वी—इन सबोंको, आज्ञा हो तो, देख आऊँ?॥३-४॥

नोट—१ (क) *'देव'* शब्दसे जनाया कि आप यश, कान्ति और प्रतापके प्रकाशक और समर्थ एवं रक्षक हैं, दिव्य हैं। हमारे इष्ट हैं। (ख) *'गुर अनुसासनु पाइ'* यथा—*'कहेउ लेहु सब तिलक समाजू। बनहिं देब मुनि रामहिं राजू॥'*—(१८७। ३) देखिये। पूर्व इतना ही कहा था कि तिलककी सामग्री ले चलो, गुरुजी वहीं वनमें उनका अभिषेक करेंगे। यहाँ स्पष्ट किया कि गुरुकी आज्ञा भी ले ली थी।

नोट २—*'एकु मनोरथु बड़ मन माहीं। सभय......'* इति।—'बड़' से जनाया कि साधारण होता तो परवा न थी। 'सभय' और 'संकोच' कि आज्ञा मिल गयी है अब कुछ और कहना धृष्टता है, सेवक भावसे भय और सङ्कोच दोनों हैं क्योंकि कह चुके हैं—*'देइ उतरु सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि*

लाज लजाई॥' आप यह न कहें कि सब प्रसङ्ग तो हो चुका अब क्या कहना है, यह भय। और, चार, छः दिन ठहरने-फिरनेको भी मिल चुके, यथा—*'भयउ बहोरि रहब दिन चारी'* तो अब ठहरने और देखनेको कहनेमें सङ्कोच होता है—(खर्रा) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि रास्ता चलते हुए भरतजीने रामवन और रामशैलकी शोभा देखी है। सब लोग तो वनविहार कर चुके हैं, यथा—*'बिहरहिं बन चहुँ ओर प्रति दिन प्रमुदित लोग सब। जल ज्यों दादुर मोर भये पीन पावस प्रथम।'* परंतु भरतजी सोचमें ही पड़े रहे, यथा—*'निसि न नींद नहि भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच।'* अब विषाद मिटा तो रामवनके देखनेके मनोरथको पूर्ण करनेका अवसर आया, और सरकारको इन लोगोंका एक मिनट वनमें ठहरना सह्य नहीं है, यथा—*'सानुज भरत सहित सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥'* (२४८।६) और सम्पूर्ण वनयात्रामें पाँच दिन लगेंगे, अतः मनोरथ प्रकट करनेमें भरतजीको भय भी है और सङ्कोच भी है।

प० प० प्र०—मनोरथ तो *'प्रभु पद अंकित चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन'* इत्यादि देखनेका ही है फिर भी इसके लिये भी आज्ञा माँगनेमें कितना भय और सङ्कोच है। चारों भाई ऐसे ही सङ्कोची स्वभावके हैं। श्रीलक्ष्मणजी यथा—*'लषन हृदय लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइय देखी॥ प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रकट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं॥'* (१।२१८।२) श्रीभरत-शत्रुघ्नजी, यथा—*'आए भरतु सहित हित भाई॥ पूछत अति सनेह सकुचाई। तात कहाँ ते पाती आई॥'* (१।२९०।७-८), श्रीरामजी, यथा—*'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥'* (१।२१८।४), *'कहुँ न राम सम स्वामि सकोची।'* (३१३।२—४) यहाँ भी श्रीभरतजीको प्रभुका भय और मुनियोंका सङ्कोच है। गुरुजीकी उपस्थितिमें देवपूजन, तीर्थयात्रा और मौन इत्यादि सब वर्ज्य हैं, पर *'प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी'* ही विशेष कारण है जिसमें यह मनोरथ प्रादुर्भूत हुआ।

नोट—३ *'प्रभु पद अंकित अवनि बिसेषी……'* इति। रा० प्र०—भाव कि एक विष्णु पदके अङ्कसे तो गयातीर्थ पूज्य हुआ और यह सकल तीर्थ चरणाङ्कित है तब इसकी अनन्त महिमाको कौन कह सकता है; अतएव देखनेकी आज्ञा हो।

अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥५॥
मुनि प्रसाद बनु मंगल दाता। पावन परम सुहावन भ्राता॥६॥
रिषिनायकु जहँ आयेसु देहीं। राखेहु तीरथ जलु थल तेहीं॥७॥
सुनि प्रभु बचन भरत सुखु पावा। मुनि पद कमल मुदित सिरु नावा॥८॥*

शब्दार्थ—'चरहू'=फिरो; बिचरो, यथा—*'नर अहार रजनीचर चरहीं।'*

अर्थ—(श्रीरघुनाथजी बोले) अवश्य, श्रीअत्रिजीकी आज्ञा सिरपर धारण करो और निर्भय होकर वनमें बिचरो॥५॥ हे भ्राता! मुनिके प्रसादसे वन मङ्गलका देनेवाला है। परम पवित्र और सुहावना है॥६॥ ऋषिराज अत्रिजी जहाँ आज्ञा दें उसी स्थलमें तीर्थोंके जलको रख देना॥७॥ प्रभुके वचनोंको सुनकर भरतजीने सुख पाया और मुनि-(अत्रिजी-) के चरणकमलोंमें आनन्दित होकर मस्तक नवाया॥८॥

नोट—१ भरतजीने तीन बातें कहीं उनमेंसे अन्तमें *'एक मनोरथ बड़'* कहा। अतः श्रीरघुनाथजीने प्रथम इसी मनोरथकी पूर्ति की, उसके साथ ही तीर्थजलके लिये भी आज्ञा दी। दो बातोंका उत्तर दिया। तीसरीका अभी कुछ उत्तर नहीं दिया। इस बड़े मनोरथके पूर्ण होनेपर तब पुनः भरतजीकी प्रार्थनापर तीसरेके उत्तरमें अवलम्ब देंगे। यह अन्तमें देंगे, क्योंकि फिर उसके बाद यहाँ ठहरना नहीं होगा, तुरत चल देना होगा।

नोट-२ *'अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू।……'* इति। (क) अत्रिजी यहाँ अधिष्ठाता हैं, इससे उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करनेको कहा। ऋषिको भी बड़ाई दी। *'बिगत भय'* का भाव कि वनमें भय होता है पर इनकी आज्ञापर चलनेसे कोई भय न रहेगा। (प्र० सं०) प्र० प० प्र० स्वामीजी कहते हैं

* ला० सीतारामकी प्रतिमें यहाँ नवीं चौपाई यह दी है—'मुखु प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू॥' मा० पी० में यह अर्धाली ३०७ (४) में दी गयी है, वहीं देखिये।

कि यहाँ वनकी भयानकता उद्दिष्ट नहीं है किन्तु इस भयका लक्ष्य *'सभय सकोच जात कहि नाहीं'* के 'सभय' पर है। भरतजीके समान श्रेष्ठ धनुर्धरके लिये कानन भयकी कल्पना अनुचित है कि जिन्होंने बिना फलके बाणसे शैलसहित हनुमान्‌जीको मूर्छित कर दिया और जिनमें शैलसहित हनुमान्‌जीको बाणपर बिठाकर श्रीरामसन्निकट पहुँचा देनेकी शक्ति थी। *'कानन चरहू'* अर्थात् जहाँ-जहाँ मुनि कहें वहाँ-वहाँ जाओ, मुनिकी प्रसन्नतासे वन मङ्गलप्रद होगा। जबसे प्रभु यहाँ आकर ठहरे तबसे चित्रकूटको विशेष गौरव प्राप्त हुआ और सारा वन मङ्गलदायक हो गया। यथा—*'जब तें आइ रहे रघुनायक। तब तें बन भएउ मंगल दायक॥'* (१३७। ५) पर श्रीरामजी इसे अत्रिजीकी महिमा कहते हैं। यह बड़ोंकी रीति है, यह शील है। (ख) रा० प्र०—कार 'परम और सुहावन वन मुनिप्रसादसे मङ्गलदाता है' ऐसा अर्थ करते हैं।

नोट—३ *'मुनिपद कमल मुदित सिरु नावा'* इति। श्रीरघुनाथजीने आज्ञा दी है कि अत्रिजीकी आज्ञा लेकर जिस प्रकार वे कहें वैसा करो। अतएव भरतजीने इनके समीप आकर इनको प्रणाम किया कि ये आज्ञा दें और कुछ कहा नहीं; क्योंकि मुनि वहीं उपस्थित हैं, उन्होंने रघुनाथजीकी और इनकी बातें सुनी ही हैं। मनोरथकी सफलता हेतु प्रणाम किया। प्रणाममात्रसे अपना मनोरथ जना दिया कि जो आज्ञा हो वह शिरोधार्य है, मेरे सिरपर है, जो कहिये मैं वही करूँ। इसका उत्तर दोहा ३०९ में है—*'अत्रि कहेउ तब भरत सन'''''।'* बीचमें संवादका माहात्म्य आदि कहा। (पु० रा० कु०)

पं०—प्रणामका भाव कि—१ मनोरथकी सफलता संतकृपासे जानी। अथवा, २—हम धन्य हैं कि प्रभुने आपके चरणोंमें मुझे लगाया। वा, ३—आपको कष्ट होगा पर आप कृपा करके क्षमा करेंगे।

दो०—भरत राम संबाद सुनि सकल सुमंगल मूल।
सुर स्वारथी सराहि कुल बरषत* सुरतरु फूल॥३०८॥
धन्य भरत जय राम गोसाँई। कहत देव हरषत बरिआईं॥१॥

अर्थ—सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलोंका मूल श्रीभरत-राम-संवाद सुनकर स्वार्थी देवता (रघु) वंशकी प्रशंसा करके कल्पवृक्षके फूलोंकी वर्षा करते हैं॥३०८॥ *'धन्य भरत जय राम गोसाँई'* ऐसा कहते हैं और जबरन हर्षित होते हैं॥१॥

नोट—१ 'यहाँ श्रीभरत-राम-संवादकी पूर्ति जनायी। अन्तिम दरबारका भरत-राम-संवाद २९८ (१) *'प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी।'''''* पर प्रारम्भ हुआ और *'राखेहु तीरथ जलथल तेही'* (३०८। ७) पर समाप्त हुआ। *'करि प्रनाम बोले भरत'''''* उपक्रम है और *'सुनि प्रभु बचन भरत सुख पावा'* उपसंहार है। इस दरबारमें दो-दो बार दोनोंका संवाद हुआ है। पहला संवाद २९८ (१) से प्रारम्भ होकर दोहा ३०६ *'सेवक कर पद नयन'''''* पर समाप्त हुआ। बीचमें देवमाया आदिका भी वर्णन है। दूसरा संवाद *'नाथ भयउ सुख साथ गये को।'* (३०७। ६) से *'राखेहु तीरथ जल०'''''* (३०८। ७) तक है। *'बोले पानि पंकरुह जोरी'* उपक्रम और *'सुनि प्रभु बचन भरत सुख पावा'* उपसंहार है। संवादका प्रसंग इस दोहेतक आया। क्योंकि श्रीरामजीने *'अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू'* कहा था, उसका प्रसंग भी इसीमें आ गया।

नोट—२ संवाद कहकर उसकी फलश्रुति कहते हैं। वह संवाद कैसा है?—*'सकल सुमंगलमूल'* है, यह इसके श्रवण-पठनका फल है। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'सुर स्वारथी सराहि कुल'''''* इति। (क) देवता सदाके स्वार्थी हैं, यहाँ अपना स्वार्थ सिद्ध देखा, क्योंकि श्रीभरतजी आज्ञा मानकर जानेको तैयार हैं। केवल तीर्थ-दर्शन भरके लिये ठहरे हैं। पूर्व लिखा था कि *'बरषत सुमन मानस मलिन से'*—(देखिये छन्द ३०१), और अब लिखते हैं कि *'बरषत*

---

* रा० प० में 'हरषत' पाठ है। उन्होंने 'बरषत' का अध्याहार ऊपरसे करके अर्थ किया है

सुरतरु फूल' और *'हरषत बरिआईं'*। यहाँ *'मानस मलिन'* नहीं कहा। कारण कि यहाँ भरतजी एवं रामजी दोनोंकी वाणी सुनकर निस्संदेह हो गये। पहले भरतके वचनसे निस्संदेह हुए थे पर श्रीरामजीकी ओरसे सन्देह बना रहा था। (ख) क्या बड़ाई करते हैं? यह कि रघुकुलकी यह परम्परा चली आती है,सभी इसमें परोपकारी होते, ब्राह्मण-गो-देवकी सदासे रक्षा करते आये हैं, सब सत्यसन्ध और धर्म-धुरन्धर हुए हैं। फिर श्रीभरतजी और श्रीरामजी क्यों न वैसे ही हों? भरतजीने कुलपरम्परागत धर्मको निबाहा कि—**'जेठ *स्वामि सेवक* लघु *भाई॥'*** उनकी आज्ञामें ही प्रसन्न हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—४ *'भरत धन्य जय राम गोसाँईं'* इति। (क) भरत धन्य हैं राम गोसाँई (पृथ्वीके स्वामी) हैं, अतएव पृथ्वीका भार उतारेंगे इनकी जय शत्रुओंपर हो। (पु० रा० कु०) (ख) एकको धन्य दूसरेको जय, इस भेदका भाव कि 'भरत सन्त हैं उनकी परम स्तुति हेतु उन्हें धन्य कहा, और प्रभु असुरोंको मारकर सुरोंका कष्ट दूर करेंगे, इसलिये उनकी जय कही।'

नोट—५ मिलान कीजिये—'**विस्मिताः संगमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः॥ अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः। तौ भ्रातरौ महाभागौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे॥ सदार्यौ राजपुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ।**'(वाल्मी० २। ११२। १—३) अर्थात् वहाँ आये हुए महर्षिगण दोनों भाइयोंका यह सम्मिलन देखकर विस्मित हुए। अदृश्यरूपमें वर्तमान मुनिगण तथा प्रत्यक्ष वर्तमान परमर्षियोंने ककुत्स्थवंशी उन दोनों भाइयोंकी प्रशंसा की। दोनों ही भाई सदाचार पालन करनेवाले हैं, दोनों धर्मज्ञ हैं और धर्मके प्रवर्तन करनेवाले हैं। यद्यपि वाल्मीकीयका प्रसंग मानससे किञ्चित भी नहीं मिलता, तथापि उपर्युक्त वचनोंका भाव *'धन्य भरत जय राम गोसाँईं'* में लिया जा सकता है।

नोट—६ *'हरषत बरिआईं'* अर्थात् हर्षमें भूल जाते हैं, सँभाल नहीं रह जाता यद्यपि रावणका भय है—(पु० रा० कु०)। पं०, और वै० लिखते हैं कि 'हर्षका समय नहीं है पर देवता बरिआई हर्षित होते हैं। करुणाके समय हर्ष नहीं चाहिये पर वे स्वार्थरत हैं। स्वार्थी अपने ही सुखको देखते हैं दूसरेका दुःख-सुख वे नहीं देखते। इसीसे अपना भला जानकर वे बरिआई हर्षित होकर जय-जयकार करते हैं। रा० प्र० 'बरिआई' का अर्थ 'जोरसे' करते हैं।

गौड़जी—जबर्दस्ती हर्षमें पड़ जाते हैं, क्योंकि उनके अन्तरतरमें रावणका भय अब भी बना हुआ है।

मुनि मिथिलेस सभाँ सब काहू। भरत बचन सुनि भयेउ उछाहू॥ २॥
भरत राम गुनग्राम सनेहू। पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू॥ ३॥
सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन। नेमु पेमु अति पावन पावन॥ ४॥
मति अनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे॥ ५॥

अर्थ—मुनि, मिथिलेशजी और सभा सभीको श्रीभरतजीके वचन सुनकर आनन्दोत्साह हुआ॥ २॥ भरतजी और श्रीरामजीके गुण-समूहों और प्रेमकी विदेहराजजी पुलकित होकर प्रशंसा कर रहे हैं॥ ३॥ सेवक और स्वामीके सुन्दर स्वभाव और अत्यन्त पावनको भी पवित्र करनेवाले नेम और प्रेमको मन्त्री और सभासद् सभी प्रेमपूर्वक अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार सराहने लगे॥ ४-५॥

नोट—१ *'मुनि मिथिलेस सभाँ सब काहू·····बिदेहू'* इति। (क) भाव कि अभीतक सबकी सरस्वती बन्द थी अब खुली। (पु० रा० कु०) (ख) 'उछाह' एक तो इससे कि चार-छः दिन और रहनेको मिला, दूसरे इससे कि जो कुछ होना था वह निश्चित हो गया। दुविधाकी बात गयी और दोनों भाई प्रसन्न हैं।

नोट—२ *'पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू'* इति। इसी तरह पूर्व भरत-व्यवहार सुनकर *'मूदे सजल नयन पुलके तन। सुजस सराहन लगे मुदित मन॥'·····भरत चरित कीरति करतूती। धरमसील गुन बिमल बिभूती॥ समुझत सुनत सुखद सब काहू।'·····साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥ भोरेहुँ भरत न पेलिहहिं मनसहु राम रजाइ।'* (२८९) यह जो पूर्व उन्होंने श्रीसुनयनाजीसे अपना अनुभव कहा था वह

प्रत्यक्ष आँखोंसे देखा। अतः उनका सर्वाङ्ग शरीर प्रेमसे पुलकित हो गया, उनसे रहा न गया, वे सबके सामने प्रशंसा करने लगे। उनके प्रशंसा करते ही और भी सब सराहने लगे। सम्भवतः इसीसे प्रथम विदेहराजजीका पुलकित होना और प्रशंसा करना कहा।

नोट—३ *'सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन।'''''* इति। (क) सेवक श्रीभरतजी, स्वामी श्रीरामजी दोनोंका स्वभाव; अथवा दोनोंके सुन्दर भाव—सेवकका स्वामी प्रति और स्वामीका सेवक प्रति। दोनोंका नेम-प्रेम। पांड़ेजी 'सेवकका नेम स्वामीका प्रेम' ऐसा अर्थ करते हैं अर्थात् स्वामी वनवासमें हैं यह जानकर भरतजीने भी सब सुख त्याग दिये। यह सेवकका नेम और भरतजीका *'अंडन्ह कमठ की नाईं'* स्मरण और उनके स्मरणमात्रसे पुलकित हो जाना, यथा—*'मगन होहिं तुम्हरे अनुरागा'* इत्यादि स्वामीका प्रेम। *'मति अनुसार'* कहते हैं, क्योंकि पूर्व कह आये हैं कि कोई कह नहीं सकता, यथा—*'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरि हर को॥ बिधि गनपति अहिपति सिव सारद'* से *'अगम सबहि बरनत बर बरनी'* तक। (२८८। ६-२८९। १)

नोट—४ *'सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे'* इति। मिलान कीजिये—'**तमृत्विजो नैगमयूथ-वल्लभास्तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः। तथा ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः''''''**।' (वाल्मी० २। १०६। ३५)। '**तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे समं जनो हर्षमवाप दुःखितः॥**' (३४)। अर्थात् ऋत्विक् नगरवासी, मन्त्री, गणके प्रतिनिधि तथा संज्ञाहीन रोती हुई माताओंने इस प्रकार बोलनेवाले भरतकी प्रशंसा की। श्रीरामजीका अद्भुत स्थैर्य देख वह दुःखी जनसमूह प्रसन्न हुआ।

सुनि सुनि राम भरत संबादू। दुहुँ समाज हियँ हरषु बिषादू॥ ६॥
राम मातु दुखु सुखु सम जानी। कहि गुन राम* प्रबोधी रानी॥ ७॥
एक कहहिं रघुबीर बड़ाई। एक सराहत भरत भलाई॥ ८॥

अर्थ—श्रीराम-भरत-संवाद सुन-सुनकर दोनों समाजोंके हृदयोंमें हर्ष और विषाद है॥ ६॥ श्रीरामजीकी माताने दुःख और सुखको समान जानकर श्रीरामके गुण कहकर सब रानियोंको समझाया॥ ७॥ कोई तो रघुवीर श्रीरामजीका बड़प्पन कह रहे हैं और कोई भरतकी निकाई (भलमंसाहत, भलापन) को सराहते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'दुहुँ समाज हियँ हरषु बिषादू'* इति। दोनों समाज अवध और मिथिलाके। भरतजीको सम्यक् बोध और सुख हुआ। उन्होंने सेवा-धर्म निबाहा और स्वार्थ त्यागकर श्रीरामका धर्म रखा इससे हर्ष और श्रीरामजी न लौटे उनके वियोगका दुःख। पुनः, रामचन्द्रजीकी पितृ-आज्ञा-पालनमें निश्चित बुद्धि, उनका अद्भुत स्थैर्य और उनको प्रतिज्ञापर अटल देख प्रसन्न हुए और अवधको न लौटेंगे यह समझकर दुःख हुआ। यथा—'**न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्मतिं पितुस्तद्वचने प्रतिष्ठितः॥ तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे समं जनो हर्षमवाप दुःखितः। न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः॥**' (वाल्मी० २। १०६। ३३-३४) हर्ष क्योंकि देवमायावश चित्त घरकी ओर भी जाता था। (वै०, रा० प्र०), अथवा *'दुहुँ समाज'* देवताओं और राजाओंका। वा, वनवासियों और राजाओंका। प्रथमको हर्ष दूसरेको विषाद। (पंजाबीजी)

नोट—*'राम मातु दुखु सुखु सम जानी।'''''* इति। (क) दुःख-सुख दोनों समान हैं अर्थात् दोनों आगमापायी हैं। 'गुनराम'=रामगुण, यथा—*'केवल गुर कुल कृपा सुधारी।'* (३०५। ५) में 'गुरकुल'='कुलगुरु'। रामगुण यह कहा कि वे धर्मनिष्ठ हैं। धर्म कैसे छोड़ सकते हैं। धीर-वीर हैं, यह मारीच-सुबाहु आदि और परशुराम-गर्व-हरण प्रसङ्गसे विदित है। अतएव वनमें उनको दुःख या कोई भय नहीं होगा। इत्यादि। रा० प्र० ने भी यही पाठ और अर्थ दिया है।

---

* कुछ प्रतियोंमें 'गुन-दोष' पाठ है पर प्राचीन यही है। 'गुण-दोष' का भाव बैजनाथजी यह लिखते हैं—'भरत-राम दोनों धर्मधुरीण हैं। इसी गुणका यह दोष है कि वियोग दूर न हुआ ऐसा कहकर सबका प्रबोध किया।' किसीका मत है कि कुलका धर्म रहा यह गुण और वियोग दोष है।

पं०—'दोनोंको व्यवहारदृष्टिमें समान जाना इस तरह कि जैसे राम पुत्र वैसे भरत पुत्र। अथवा, कर्मदृष्टिसे संयोग-वियोग अपने कर्मानुसार मानकर समानता की, उपासनाकी दृष्टिसे सुख-दु:ख ईश्वराधीन मानकर तुल्य समझा और ज्ञानदृष्टिसे दु:ख-सुख आदि मिथ्या जान शान्तचित्त हुईं; क्योंकि 'राममाता' हैं। चित्तको स्वस्थ करके कि रघुबीरके वनवासमें पितावचन, देवकार्य, भूमिभारका उद्धार ये गुण हैं, घर लौटनेमें ये गुण नहीं—यही दोष है इस प्रकार राममाताने उन्हें समझाया।—(यह भाव 'गुणदोष' पाठका है। दीनजीका मत है कि दरबारके फैसलेके गुण-दोष कहकर समझाया।)

गौड़जी—गुनराम तो राम-गुनके लिये उसी तरह प्रयुक्त हुआ है जैसे *'हरन भवभय दारुनम्'* में दारुन भव भय उलट गया है परन्तु 'कुलगुरु' की जगह 'गुरुकुल' की कोई आवश्यकता न थी। यह केवल लेखक-प्रमाद था।

दूसरा दरबार समाप्त हुआ।

***

दो०—अत्रि कहेउ तब भरत सन सैल समीप सुकूप।
राखिय तीरथ तोय तहँ पावन अमिअ अनूप॥ ३०९॥

भरत अत्रि अनुसासन पाई। जल भाजन सब दिये चलाई॥ १॥
सानुज आपु अत्रि मुनि साधू। सहित गये जहँ कूप अगाधू॥ २॥
पावन पाथ पुन्य थल राखा। प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाषा॥ ३॥

शब्दार्थ—'तोय'=जल। 'दिये चलाई'=रवाना कर दिये।

अर्थ—तब भरतजीसे अत्रिजीने कहा कि इस पर्वतके समीप सुन्दर कुआँ है उसीमें इस अनुपम, पवित्र और अमृतसरीखे तीर्थजलको रख दीजिये॥ ३०९॥ भरतजीने अत्रिजीकी आज्ञा पाकर तीर्थजलके सब पात्र आगे रवाना कर दिये (भेज दिये)॥ १॥ अत्रि, मुनि और साधुओंके सहित तथा भाई-(शत्रुघ्न-) के समेत आप भी वहाँ गये जहाँ वह गहरा कुआँ था॥ २॥ और उस पवित्र जलको उस पुण्यस्थलमें रखा। तब अत्रिजीने बहुत आनन्दित होकर प्रेमसे ऐसा कहा॥ ३॥

नोट—१ पूर्व भरत-अत्रिका प्रसङ्ग *'मुनिपद कमल मुदित सिर नावा।'* (३०८। ८) पर छोड़ा था अब वहींसे फिर उठाते हैं। श्रीभरतजीने प्रणाम किया तब मुनिने आज्ञा दी।

वि० त्रि०—*'अत्रि कहेउ····अनूप'* इति। भाव कि कूपमें ही तीर्थजल रखनेसे वह अक्षय हो जाता है। अत: इसे कूपमें रखना चाहिये। इसी शैलके सन्निकट सुकूप है, वह स्वयं पावन है। इस तीर्थके जलके रखनेसे और भी पवित्र हो जायगा। यद्यपि रामजीके अभिषेकके काममें नहीं आया, फिर भी जगत्का कल्याण करेगा। इसमें निमज्जन करनेवाला मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध हो जायगा।

पं०—पवित्रता तो तीर्थतोय पदसे ही सूचित हो गयी, उसपर भी 'पावन' विशेषण देकर उसको अत्यन्त पवित्र जनाया। अथवा, इनसे 'निर्मल अमृतसम रस और अनुपम फलवाला' सूचित किया। *'प्रमुदित प्रेम अत्रि·····'* का भाव कि रघुनाथजीके दर्शनसे हम पवित्र हुए और हमारे निकट सर्वतीर्थजलमय यह तीर्थ बनेगा, इससे अगणित लोग कृतार्थ होंगे, यह समझकर अत्यन्त आनन्द और प्रेम हुआ।

तात अनादि सिद्ध थल एहू। लोपेउ काल बिदित नहिं केहू॥ ४॥
तब सेवकन्ह सरस थलु देखा। कीन्ह सुजल हित कूप बिसेषा॥ ५॥
बिधि बस भएउ बिस्व उपकारू। सुगम अगम अति धरम बिचारू॥ ६॥
भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अतिपावन तीरथ जल जोगा॥ ७॥

प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिं बिमल करम मन बानी॥ ८॥

दो०—कहत कूपमहिमा सकल गये जहाँ रघुराउ।

अत्रि सुनायेउ रघुबरहि तीरथ पुन्य प्रभाउ॥ ३१०॥

शब्दार्थ—'**सरस**'=सजल, मनोहर, सुन्दर।=श्रेष्ठ—(रा० प्र०)। '**बिसेषा**'=खास।

अर्थ—हे तात! यह अनादि सिद्ध स्थल है। इसे कालने लुप्त कर दिया था (अर्थात् बहुत काल होनेपर लुप्त हो गया था,) इससे किसीको मालूम न था॥ ४॥ तब सेवकों-(शिष्यों-) ने इस सजल स्थलको देखा और सुन्दर जलके लिये उन्होंने एक खास बड़ा कुआँ बना लिया॥ ५॥ दैवयोगसे संसारभरका उपकार हुआ। जो धर्मका विचार अत्यन्त अगम था वह सुगम हो गया॥ ६॥ अब इसे लोग भरतकूप कहेंगे। तीर्थजलके सम्बन्धसे यह अत्यन्त पवित्र हो गया (वा, अत्यन्त पवित्र तीर्थजलके योगसे अब इसे लोग भरतकूप कहेंगे)॥ ७॥ इसमें प्रेमसे नियमपूर्वक स्नान करनेसे प्राणी मन-वचन-कर्मसे निर्मल हो जायँगे॥ ८॥ कूपकी महिमा कहते हुए सब लोग वहाँ गये जहाँ रघुनाथजी थे; अत्रिजीने रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीको इस पवित्र तीर्थके पुण्य और प्रभावको सुनाया॥ ३१०॥

नोट—१ *'अनादि सिद्ध थल एहू'* अर्थात् यह बहुत प्राचीन स्थल है, कितना प्राचीन है कोई नहीं जानता। 'अनादि' क्योंकि जब-जब रामावतार होता है तब-तब तिलकका जल इसमें रखा जाता है। कोई नहीं जानता कि कबसे है। 'सिद्ध थल' अर्थात् सिद्ध महात्माओंका निवास यहाँ रहा है, यहाँ सिद्धियाँ शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं। इस स्थानपर साधकलोग सिद्ध होते आये हैं।

नोट—२ *'तब सेवकन्ह सरस थलु देखा।'*......' इति। (क) तब अर्थात् जब जलकी अपेक्षा हुई तब इस थलको देखा कि सरस है, यहाँ जल शीघ्र निकलेगा तब सुन्दर जलके लिये नया कुआँ-सा बना लिया था।—प्रसंगानुकूल यही अर्थ है। कुछ लोगोंने यह अर्थ किया है कि 'तब भरतके सेवकोंने सरस थलको देखा और तीर्थजलके रखनेके लिये उसे कूपसरीखा बनाया'। पर, इस अर्थमें पूर्वापर विरोध पड़ता है। मुनि 'सुकूप' अर्थात् सुन्दर कूपका होना कह चुके हैं (३०९ में) तब कूप बनानेकी आवश्यकता अब कहाँ ? पुनः, *'गये जहँ कूप अगाधू'* भी प्रमाण है कि कूप प्रथमसे ही बना हुआ था। तीर्थजल उसमें रख दिया गया तब अत्रिजी बोले। आगेके वचन अत्रिजीके हैं। (ख) *'सुजल हित'* का भाव कि नदीतटपर स्थित बस्तीमें वर्षा और शरद्‌में वर्षाजलके कारण नदीका जल मलिन हो जाता है, पीनेके योग्य नहीं रहता। निर्मल जल न मिलनेसे रोग फैलते हैं अथवा बासी जल पीना पड़ता है। कुएँका जल वर्षामें भी निर्मल रहता है। अतः 'सुजल' निर्मल ताजा जलके लिये बड़ा कुआँ बनाया गया। (प० प० प्र०)

नोट—३ *'बिधि बस भएउ बिस्व उपकारू।'*....' इति।—दैवयोगसे, प्रारब्धवश ऐसा हो गया, नहीं तो यह किसकी सामर्थ्य थी कि समस्त तीर्थोंका जल लाकर इसमें रखता। 'बिधिबस' इससे कहा कि जल आया था रामराज्याभिषेकके लिये और अनाश्रुत आकर स्थापित यहाँ हुआ।

नोट—४ *'सुगम अगम अति धरम बिचारू'*....' इति।—रा० प्र०—भाव यह कि 'सब तीर्थ एक ही ठौर मिल जायँ यह विचार अगम था, विधिवश वह सुगम हो गया।' (ख)—सब तीर्थोंमें स्नान होना एवं सर्व तीर्थोंका जल एकत्र करना यह बड़ा भारी धर्म है पर इसका पूर्ण होना; इसका विचार, अतिशय कठिन था वह कठिनता दूर गयी, सहजहीमें लोगोंको यह बड़ा धर्म प्राप्त हो गया। भगवत्-कृपासे कठिन धर्म सुगम हो जाते हैं वैसे ही यह सुगम हो गया।

नोट—५ तीर्थ-स्नानकी विधि है कि उसका नाम जाने, उसका माहात्म्य सुने, तब विधिपूर्वक स्नान करे। इसीसे इसका नाम रखा कि भरतकूप नाम है। फिर उसमें स्नानका फल कहा कि मन, वचन, कर्म तीनों निर्मल हो जाते हैं। स्नानकी विधि यह कि प्रेम और नियमसे स्नान करे। *'अतिपावन तीरथ जल जोगा'* से जनाया कि पावन तो पूर्वसे ही था अब 'अतिपावन' हो गया।

कहत धरम इतिहास सप्रीती। भयेउ भोरु निसि सो सुख बीती॥ १॥
नित्य निबाहि भरत दोउ भाई। राम अत्रि गुर आयसु पाई॥ २॥
सहित समाज साज सब सादें। चले राम बन अटन पयादें॥ ३॥
कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं॥ ४॥

अर्थ—प्रेमपूर्वक धर्मके इतिहास (कथाएँ, प्रसङ्ग) कहते हुए वह रात सुखसे बीत गयी और सबेरा हो गया॥ १॥ भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई नित्य प्रात:क्रियासे निवृत्त होकर श्रीरामजी, अत्रिजी एवं गुरुकी आज्ञा पाकर समाजसहित सब सादे साजसे पैदल रामवनमें घूमने (प्रदक्षिणा करने) चल दिये॥ २-३॥ उनके चरण कोमल हैं, बिना जूताके चल रहे हैं। (यह देख) पृथ्वी मन-ही-मन सकुचाकर कोमल हो गयी॥ ४॥

नोट—१ *'भयेउ भोरु निसि सो सुख बीती'* से जनाया कि अब किसीको दु:ख नहीं है।

नोट—२ (क) *'नित्य……'* इति। यहाँ तीर्थाटनकी विधि बताते हैं। सवारीकी कौन कहे, जूती आदि भी न पहनना चाहिये और न ठाट-बाट ही चाहिये। (ख) *'नित्य निबाहि'* से जनाया कि तीर्थयात्रामें नित्य धर्म, कर्म आधे ही करनेको लिखा है पर ये पूरा निबाहते हैं। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं'* इति। सकुचनेके अनेक भाव कहे जाते हैं—(क) इन्होंने हमारे साथ बड़ा उपकार किया, नहीं तो रामजीके लौटा ले जानेसे हमारा भार कैसे उतरता। (ख) पहले हमसे न करते बनी, हमसे चूक हुई, ऐसे परम भागवतको हमसे कष्ट पहुँचा, यथा—*'झलका झलकत पायन्ह……'*। अत: सकुची। (ग) सकुचसे कठोरता नहीं रह जाती इसीसे वह कोमल हो गयी। (पु० रा० कु०) (घ) जिसपर प्रभु प्रसन्न होते हैं उसपर सभी प्रसन्न हो जाते हैं। पृथ्वीने सोचा कि भरतजी राज्य करके मेरा पालन करेंगे, दूसरे मेरा भार उतारनेमें सहायक हुए हैं, अतएव उसने इन्हें सुख दिया। (पं०) (ङ) रा० प्र०—सकुची अर्थात् सिकुड़ गयी जिसमें दूरके स्थान पास हो जायँ। [पर सकुचना मनमें ही कहा न कि तनका, यथा—*'सकुचि मन मनहीं'* अत: यह भाव शब्दोंसे संगत नहीं (प० प० प्र०)] सीताजी भूमिजा हैं इस प्रकार भरतजी पृथ्वीके दामादके छोटे भाई हुए। अपने सम्बन्धीका सब उपकार करते हैं; अत: उसने भी उपकार किया कि मृदु हो गयी। आगे बताते हैं कि कैसे मृदु हुई।

(च) पहले पृथ्वी कोमल चरणोंको देखकर क्यों न सकुची थी, इनके पैरोंमें छाले पड़ गये ऐसी कठोर बनी रही? कारण यह कि तब इसको भी मोह था कि लौटाने जा रहे हैं; स्वार्थवश कोमल न हुई थी और अब अपने स्वार्थमें उनकी सहायता देख पश्चात्ताप हुआ।

प० प० प्र०—श्रीभरतजीके लिये पृथ्वीका मृदु होना पूर्व भी कहा गया है। यथा—*'देखि दसा सुर बरसहिं फूला। भइ मृदु महि मगु मंगल मूला॥ किये जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात। तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात।'* (२१६) अतएव यहाँ मन-ही-मन सङ्कोच यह हुआ कि इनके चरणोंके विचारसे जितना कोमल मुझे बनना चाहिये, उतना मुझसे नहीं बन पाता, क्योंकि यह मेरे स्वभावमें नहीं है। इनके लिये कुसुममय मार्ग बना देना अवश्य मेरे हाथकी बात है पर फूल पूजाकी वस्तु होनेसे परम प्रेमी भरतजी उनपर चरण ही क्यों रखने लगे। किसी प्रकार अपनेको विशेष सहायक न हो सकनेका ही सङ्कोच है।

कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं॥ ५॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे। बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे॥ ६॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाँही। बिटप फूलि फलि तृन मृदुताही॥ ७॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल रामप्रिय जानी॥ ८॥

दो०—सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु राम कहत जमुहात।
राम प्रानप्रिय भरत कह येह न होइ बड़ि बात॥ ३११॥

शब्दार्थ—**कुराई** (कुराह)=बुरा रास्ता, तंग और नीचा-ऊँचा रास्ता। (श० सा०)।=नदीके किनारेकी मटियार भूमिमें (जो धूपसे फट जाती है) जो गड्ढे हो जाते हैं उन्हें 'कुराई' कहते हैं—(दीनजी)=कुरवक, कटसरैया (पियावासा) आदि कटीले पौधे—यथा—'**सैरेकस्तु झिंडी स्यात्तस्मिन्कुरबकोरुणे**'—(अमर २, ४, ७५)। **कटुक**=कष्टदायक, जो चित्तको न भावे, बुरी लगे=खझुरा आदि जो लगते ही खुजली पैदा कर देते हैं—(वै०)। **मृदुताही**=कोमलतासे। **कुबस्तु**=मैला, हड्डियाँ आदि जो छूने लायक नहीं और देखनेमें भी बुरी लगें। कठोर जैसे पत्थर आदि।

अर्थ—कुश, काँटा (गोखरू, जवासा आदि), कंकड़ियाँ, गड्ढे, कष्टदायक कठोर और बुरी वस्तुओंको छिपा दीं॥ ५॥ पृथ्वी सुन्दर हो गयी और मार्ग सुन्दर और कोमल कर दिये गये, सुखोंको लिये हुए तीनों प्रकारकी शीतल-मन्द-सुगन्ध हवा चल रही है (अर्थात् सबको सुख देनेके लिये सुखको साथ लिये, जिसे जिस प्रकारकी वायुसे सुख मिलता है उसे वैसा ही होकर सुख देती है)॥ ६॥ देवता फूल बरसाकर, बादल छाया करके, वृक्ष फूल-फल द्वारा, तृण कोमलतासे, पशु देखकर और पक्षी सुन्दर वाणी बोलकर—सभी इनको श्रीरामजीके प्यारे जानकर इनकी सेवा करते हैं॥ ७-८॥ जँभाते हुए (निद्रा वा आलस्यवश) भी 'राम' ऐसा कहनेसे साधारण प्राणियोंको भी स्वाभाविक ही सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं तब भरतजीके लिये यह (जो कह आये कि '*कुस""सेवहिं*') कोई बड़ी (आश्चर्यजनक) बात नहीं है, वे तो रामको प्राणप्रिय हैं॥ ३११॥

'***बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हें।***' इसके दो अर्थ होते हैं—'हवा अपने साथ सुख लिये हुए चल रही है, अर्थात् शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन सबको सुख दे रहा है। दूसरे 'उस हवाके लेनेसे सभीको सुख हो रहा है'। पं० और रा० प्र० लिखते हैं कि '***सुख लीन्हे***'=जितना जो चाहे उतना ही, प्रयोजनभर अधिक नहीं।

टिप्पणी—१ अपने अधिकारयोग्य सब सेवा कर रहे हैं। मृगोंके नेत्र सुन्दर होते हैं, वे उन्हें दिखाकर प्रसन्न करते हैं अर्थात् मृग जब भरतको देखते हैं तब वे उनकी आँखोंको देखकर प्रसन्न होते हैं। कोकिल आदि अपनी सुरीली मधुर बोलीसे उनके चित्तको प्रसन्न करते हैं। वृक्ष फूले-फले होनेसे देखकर सुख होता है।

टिप्पणी—२ '***सेवहिं सकल रामप्रिय जानी***' से उपर्युक्त सुखका कारण बताया। तात्पर्य यह कि रामजी सबके आत्मा हैं, उनके प्रिय होनेसे प्राणी सबको प्रिय हो जाता है, यथा—'***जो राम तोहि सुहाते तौ तू सबहि सुहातो***' (इति विनये) मिलान कीजिये—'***पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नाते।***' (७४। ७)

टिप्पणी—३ पूर्व कहा था कि '***अचर सचर चर अचर करत को***'। अचरका सचर होना यहाँ चरितार्थ देखिये। अचर तृण भूमि आदि सब चैतन्यका काम कर रहे हैं।

नोट—'***राम प्रानप्रिय भरत कह***'—इसके दोनों अर्थ यहाँ गृहीत हैं। श्रीरामजीको जो प्राणप्रिय हैं और श्रीरामजी जिनको प्राणप्रिय हैं। यथा—'***राम प्रानहुँ ते प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहुँ ते प्यारे।***' (१६९। १) (प० प० प्र०)

एहि बिधि भरत फिरत बन माहीं। नेम प्रेमु लखि मुनि सकुचाहीं॥ १॥
पुन्य जलाश्रय भूमि बिभागा। खग मृग तरु तृन गिरि बन बागा॥ २॥
चारु बिचित्र पबित्र बिसेषी। बूझत भरतु दिब्य सब देखी॥ ३॥
सुनि मन मुदित कहत ऋषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ॥ ४॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीभरतजी वनमें फिरते हैं। उनका नेम और प्रेम देखकर मुनि सकुचाते हैं॥ १॥ पवित्र जलके स्थान (नदी, बावली, कुण्ड आदि), पृथ्वीके पृथक्-पृथक् भाग, पक्षी, पशु, वृक्ष, तृण, पर्वत, वन और बाग—सभी बहुत सुन्दर, विचित्र (रंग-बिरंगके और विलक्षण) और विशेष पवित्र हैं। इन सबोंको दिव्य देखकर भरतजी पूछते हैं॥ २-३॥ ऋषिराज अत्रिजी सुनकर प्रसन्न मनसे सबके कारण, नाम, गुण, पुण्य और प्रभावको कहते हैं॥ ४॥

नोट—*'नेम प्रेमु लखि मुनि सकुचाहीं'* इति। मुनि सकुचते हैं अर्थात् लज्जित होते हैं कि हम इसी नेम-प्रेमके लिये घर छोड़ वनमें बसे, फिर भी हमको यह नेम-प्रेम प्राप्त नहीं हुआ। इनका नेम-प्रेम हमसे बेहद बढ़ा-चढ़ा हुआ है, इनके सामने हमारा नेम-प्रेम तुच्छ है, पासङ्गभर भी नहीं है।—*'मूड़ मुड़ायो व्यर्थ ही भाँड़ भयो तजि गेह'* यह हमारा हाल है।

नोट—२ (क) *'पुन्य जलाश्रय'* अर्थात् वे जलके स्थान जिन्हें देखकर हृदयमें प्रेमकी उमंग उठे और मनमें सात्त्विक भावोंका उदय हो। (ख) *'दिव्य सब देखी'* इति। जिनके हृदय अत्यन्त निर्मल होते हैं, उनके चक्षु भी दिव्य हो जाते हैं। उनको दिव्य विभूतियाँ साक्षात् देख पड़ती हैं जहाँ हमसे मलिन हृदयवालोंको अदिव्यता ही दृष्टिगोचर होती है।

'हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ' इति। हेतु=कारण कि यह नाम क्यों पड़ा, ये यहाँ क्योंकर आये, इनकी उत्पत्ति क्योंकर हुई इत्यादि। क्या नाम है; उनका क्या पृथक्-पृथक् गुण है। दिव्य हैं, अतः उनका पुण्य और प्रभाव एवं उनके पुण्यका प्रभाव कहते हैं।

कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा॥ ५॥
कतहुँ बैठि मुनि आयेसु पाई। सुमिरत सीय सहित दोउ भाई॥ ६॥
देखि सुभाउ सनेहु सुसेवा। देहि असीस मुदित बनदेवा॥ ७॥
फिरहिं गये दिनु पहर अढ़ाई। प्रभु-पद-कमल बिलोकहिं आई॥ ८॥

दो०—देखे थल तीरथ सकल भरत पाँच दिन माँझ।
कहत सुनत हरिहर सुजसु गयेउ दिवसु भइ साँझ॥ ३१२॥

शब्दार्थ—'अभिराम'=आनन्द, यथा—*'जग अभिराम राम अभिषेका'*। मन अभिराम=मनको आनन्द देनेवाले (मनोहर दृश्य)।=मनको आनन्द होता है।=आनन्दित मनसे। 'पहर'—तीन घंटे।

अर्थ—श्रीभरतजी मनमें आनन्दित होकर कहीं तो स्नान करते हैं, कहीं प्रणाम और कहीं दर्शन करते हैं॥ ५॥ कहीं मुनिकी आज्ञा पाकर बैठकर सीतासहित दोनों भाइयोंका स्मरण करते हैं॥ ६॥ भरतजीका स्वभाव, प्रेम और सुन्दर सेवा देखकर वनदेवता प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं॥ ७॥ अढ़ाई पहर दिन बीतनेपर लौटते हैं और आकर प्रभुके चरणकमलोंका दर्शन करते हैं॥ ८॥ भरतजीने पाँच दिनोंमें सब तीर्थस्नानोंका दर्शन कर लिया। हरिहरसुयश कहते-सुनते दिन बीत गया, संध्या हुई॥ ३१२॥

नोट—१ रा० प्र० आदि टीकाकारोंने लिखा है कि तीर्थोंमें स्नान और देवताओंको प्रणाम करते हैं और पक्षियों, पशुओंको वा वनको देखते हैं। यथा—*'देखत बन सर सैल सुहाये। बाल्मीकि आश्रम प्रभु आये।'''सरनि सरोज बिटप बन फूले। गुंजत मंजु मधुप रस भूले। खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥'* (१२४। ५—८) पर यह भी हो सकता है कि पुण्यजलाश्रयोंमेंसे भी सबमें स्नान नहीं किया, कहीं स्नान कर लिया, कहीं मार्जन-प्रणाम आदि ही कर लिया। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि 'जहाँसे तीर्थका दर्शन हो वहींसे उसको प्रणाम-विधि है। अतः यहाँ भाव यह है कि पुण्यभूमि विभागोंको केवल प्रणाम करते हैं और तीर्थोंमें स्नान करते हैं।' अथवा जहाँ स्नानकी विधि है वहाँ स्नान, जहाँ प्रणाममात्रकी विधि है वहाँ प्रणाममात्र करते हैं और जहाँ केवल बैठकर दर्शन करना विधि है वहाँ बैठकर दर्शन किया करते हैं।

नोट—२ *'मन अभिरामा'* अर्थात् रुचिपूर्वक देखते हैं। यहाँ *'मन अभिरामा'* के तीनों अर्थ गृहीत हैं जो शब्दार्थमें दिये गये हैं। *'बैठि मुनि आयेसु पाई'* अर्थात् श्रमित होनेपर अथवा रुचिरता देखनेके निमित्त आज्ञा पाकर बैठ जाते हैं। *'सुभाउ सनेह सुसेवा'* अर्थात् सबके प्रति सुष्ठु भाव, प्रभुमें प्रेम और ऋषि आदिकी सेवा।

नोट—३ *'फिरहिं गये दिनु पहर अढ़ाई'* इति। दूसरे स्नान और भोजनके समय लौटते हैं। यहाँ पाँचों दिनोंकी नित्यचर्या दिखायी कि अढ़ाई पहरतक तीर्थ-वन आदिमें दर्शन करते विचरते हैं और फिर लौटकर प्रभुका दर्शन करते हैं। इस प्रकार ५ दिनमें सब देख लिया। (पु० रा० कु०)

नोट—४ *'हरिहर सुजसु'* इति। (क) हरिहर अर्थात् भगवत्-भागवत-यश, अथवा केवल विष्णु और शिवजीका यश। (ख) खर्रा—भाव यह कि भोजन करके रोज कथा होती थी। मुनि लोग कहते और सब सुनते थे। सब स्थानोंमें जहाँ भगवान् विष्णु हैं वहाँ उनके परम भक्त शिवजी भी हैं अतः दोनोंका सुयश वर्णन करते।

प० प० प्र०—सन्तसमाजमें *'हरिहरकथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥'* (१। २। १०) और तीर्थयात्रामें मुख्य हेतु तो सत्सङ्ग तथा सन्तदर्शन ही होता है—**'तीर्थे तीर्थे निर्मलं साधुवृन्दम्। वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिन्तानुवादः॥ वादे वादे गीयते रामकीर्तिः। कीर्त्तौ कीर्त्तौ भासते चन्द्रचूडः।'** अतः *'कहत सुनत हरिहर सुजसु'* कहकर जनाया कि साधुसमाज जंगम प्रयागमें सत्सङ्ग भी करते थे।

वंदनपाठकजी—……**'यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयुतम्। विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥', 'पापं न कुरुते यस्तु वाङ्मनोभ्यां शरीरतः। यथाशक्त्या च दानेन स तीर्थफलमश्नुते॥'** (सत्योपाख्यान १-२)

नोट—५ कौन-कौन स्थल तीर्थ आदि देखे और किस प्रकार, एवं कौन-कौन साथ थे इत्यादि बृहद्रामायणमें यों कहे गये हैं—

'एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं भरतो भ्रातृवत्सलः। मङ्गलालंकृतवपुः कृतस्वस्त्ययनो द्विजैः॥ वसिष्ठप्रमुखैर्विप्रैः शास्त्रज्ञैश्च समन्वितः। स्निग्धैः कतिपयैरेव राजपुत्रवरैः सह॥ कौशल्यादिस्वमातृभ्यां साकं स्नेहविभूषितैः। ग्रामणीललनालोलहस्तपद्मावनोदितैः॥ आलोकयन् दिगन्तांश्च परिचक्राम जांगलान्। आजगाम हरिक्षेत्रं चित्रकूटं मणिप्रभम्॥ यत्र मन्दाकिनी गंगा त्रिषु लोकेषु विश्रुता। यत्र ब्रह्मर्षयः सर्वे तथा राजर्षयोऽमलाः॥ विराजन्ते द्विजश्रेष्ठ श्रीरामस्मरणोत्सुकाः। स्नात्वा द्युनद्यां विधिवद्दत्त्वा दानं यथाविधि॥ प्रदक्षिणार्थं भरतो ह्याजगाम गिरेरधः। तत्राश्चर्यं तेन दृष्टं तत्सर्वं कथयामि ते॥ जाह्नवीं चैव कालिन्दीं सरयूं चोत्पलैर्वृताम्। सरस्वतीं शतद्रूं च चन्द्रभागां पयस्विनीम्॥ विरजां ताम्रपर्णीं च कावेरीं चैव नर्मदाम्। प्रयागं नैमिषं चैव धर्मारण्यं गयां तथा॥ वाराणसीं श्रीगिरिं च केदारं पुष्करं तथा। मानसं चक्रमसरस्तथैवोत्तममानसम्॥ बाडवं बाडवं चैव तीर्थवृन्दं च सागरम्॥ अग्नितीर्थं महातीर्थमिन्द्रद्युम्नसरस्तथा॥ सरांसि सरितश्चैव पुण्यक्षेत्राणि यानि च। स्वामिनं कार्तिकं पञ्चशालग्रामं हरिं तथा॥१२॥ एतानि सर्वतीर्थानि नानाश्चर्ययुतानि च। विन्ध्यादिपर्वतश्रेष्ठाः श्रीगिरेः सेवनोत्सुकाः॥ श्रीगिरिः चतुराशीति योजनानां समुच्छ्रितः। सर्वदेवात्मकं दृष्ट्वा गिरेः कृत्वा प्रदक्षिणाम्॥ दत्त्वा दानं द्विजातिभ्यः श्रीरामप्रीतिहेतुकम्।' इत्यादि॥

चित्रकूटका तीसरा दरबार

भोर न्हाइ सबु जुरा समाजू। भरत भूमिसुर तेरहुतिराजू॥ १॥
भल दिनु आजु जानि मन माहीं। रामु कृपाल कहत सकुचाहीं॥ २॥
गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ ३॥
सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥ ४॥

शब्दार्थ—'शील' यथा—'**अद्रोहं सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहं च दानं च शीलमेतत्प्रचक्षते**' '**शीलं स्वभावे सद्वृत्ते**' (इति विश्वे), '**शीलं परं भूषणं**' (इति भर्तृहरि)—(वन्दनपाठक)।

अर्थ—(छठे दिन) सबेरे स्नान करके श्रीभरतजी, ब्राह्मण और राजा श्रीजनकजी सब-का-सब (वा, और सब) समाज जुड़ा (एकत्रित हुआ)॥ १॥ आज (प्रस्थानके लिये) उत्तम दिन है यह मनमें जानकर भी दयालु रामचन्द्रजी कहते हुए सकुचते हैं॥ २॥ गुरु, राजा, भरत और सभाकी ओर देखकर फिर रामचन्द्रजी सकुचाकर पृथ्वीकी ओर देखने लगे अर्थात् सिर नीचा कर लिया॥ ३॥ सब सभा उनके शीलकी प्रशंसा करके सोचती है कि रामके समान संकोची स्वामी कहीं नहीं है॥ ४॥

नोट—१ '*सबु समाजू*' से जनाया कि आज कोई छूटा नहीं, समाजके सभी लोग यहाँ हैं। सभी ब्राह्मण, ऋषि, मुनि उपस्थित हैं, अवध, मिथिला दोनों समाज भी हैं।

नोट—२ '*भल दिनु आजु*""।' ज्येष्ठ कृ० १३ सोमवार है, उत्तर दिशाके प्रस्थानके लिये उत्तम है। भलसे जनाया कि तिथि, वार, नक्षत्र, योग आदि सभी यात्राके लिये अनुकूल हैं। यह जानते हैं पर वियोगकी बात कहते संकोच होता है। संकोचका कारण 'कृपाल' विशेषणसे जनाया। कृपा कारण है, आज जाओ यह कहनेसे सबको दुःख होगा।

नोट—३ '*गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि*""' इति। यह शील स्वभाव है, मुखसे संकोचवश न कहा, कहनेसे शील टूटता। पर अपने सुहृद् स्वभावसे उन्होंने यात्राका उपाय भी कर दिया कि इन सबकी ओर देखकर आँखें नीची कर लीं। इस प्रकारका अवलोकन शील और संकोचकी एक मुद्रा है। और बड़ोंके संकोचसे आँखें नीची कर लेना, पृथ्वीकी ओर देखना, यह स्वाभाविक ही होता है। वैसा ही यहाँ हुआ। इस प्रकार मुँहसे न भी कहकर बिदाईकी चेष्टा प्रकट कर दी।

वि० त्रि०—यात्राके लिये अच्छा दिन है, यह कहनेमें रामजीको संकोच था, क्योंकि जो आया है, उसीका छुट्टी माँगना शोभा देता है, पर कोई कुछ कह नहीं रहा है। तब रामजीने गुरुजीकी ओर देखा कि शुभ मुहूर्तका ध्यान इन्हें अवश्य होगा, फिर महाराज जनककी ओर देखा जो शुभ मुहूर्त देखकर ही यात्रा करते हैं, अत्यन्त आवश्यकता पड़नेपर दुघड़िया साइत देखते हैं, फिर भरतलालकी ओर देखा कि यात्रा कर चुके अब इन्हें छुट्टी माँगना प्राप्त है, फिर सभाकी ओर देखा कि कदाचित् इन लोगोंमेंसे कोई कुछ कहे, इन लोगोंको रह-रहकर घर याद आ रहा है (यथा—'*छन बन रुचि छन सदन सोहाहीं*') पर जब किसीने कुछ नहीं कहा तब नीचे देखने लगे, संकोचके कारण स्वयं कुछ न कहा।

पं०—भाव कि आपके सामने हमारा कहना अनुचित है। वा, हम कह नहीं सकते, हमको कहनेमें संकोच होता है, पर पृथ्वीपर भार है, उसके हितके लिये सबको लौटना चाहिये। वा, जनाया कि घबड़ाओ नहीं पृथ्वीकी तरह धैर्य धारण करो, हमको अभी यहाँ रहना है तुम लौट जाओ। इत्यादि।

भरत सुजान राम रुख देखी। उठि सप्रेम धरि धीर बिसेषी॥ ५॥
करि दंडवत कहत कर जोरी। राखी नाथ सकल रुचि मोरी॥ ६॥
मोहि लगि सहेउ सबहि संतापू। बहुत भाँति दुखु पावा आपू॥ ७॥
अब गोसाँइ मोहि देउ रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई॥ ८॥

दो०—जेहि उपाय पुनि पाय जनु देखइ दीनदयाल।
सो सिख देइअ अवधि लगि कोसलपाल कृपाल॥ ३१३॥

अर्थ—चतुर श्रीभरतजी श्रीरामजीका रुख देखकर प्रेमपूर्वक उठकर बहुत धैर्य धारणकर दण्डवत् करके हाथ जोड़कर कहने लगे—हे नाथ! आपने मेरी सभी इच्छाएँ रखीं (पूरी कीं)॥ ५-६॥ मेरे कारण सभीने

दुःख सहे और आपने भी बहुत तरहसे दुःख पाया॥ ७॥ हे गोसाईं! अब मुझे आज्ञा दीजिये; मैं जाकर अवधिभर अवधका सेवन करूँ॥ ८॥ हे दीनदयाल! जिस उपायसे आपका यह दास फिर चरणोंको देखे, हे कोसलपाल! हे कृपालु! अवधिभरके लिये मुझे वही शिक्षा दीजिये॥ ३१३॥

नोट—१ '*भरत सुजान राम रुख देखी।*.....' इति। 'सुजान' हैं अतः चेष्टासे जान गये कि उनकी रुचि है कि हम सब लौट जायँ। '*धरि धीर बिसेषी*' क्योंकि वियोगका समय आ गया, वियोगमें प्रेम विशेष बढ़ जाता ही है और प्रेममें फिर धीरज धरना ही पड़ता है—(पु० रा० कु०) २—'*राखी नाथ सकल रुचि मोरी*', यथा—'*निज पन तजि राखेउ पनु मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥ कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ।*' (२६६)। पुनः, साथ जानेकी रुचि थी वह पूरी हुई, यथा—'*नाथ भयउ सुख साथ गए को*'। पुनः '*एक मनोरथ बड़ मन माहीं*......' सो भी पूरा हुआ। इससे यह भी जनाया कि एक अभिलाषा जो रह गयी है वह भी आप पूरी करेंगे।

नोट—२ '*मोहि लगि सहेउ सबहि संतापू।*......' अर्थात् अनर्थ और वनका दुःख। '*सबहि*' अर्थात् प्रजा, परिवार, मिथिलेशादि सबने एवं सब तरहका क्लेश, यथा—'*देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहि दुसह जर पुर नर नारी॥*' '*महीं सकल अनरथ कर मूला।*' (२६२। २-३), '*नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक बिकल बनबास दुखारी॥ सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥*' (२९०। ४-५) और '*राम सत्यब्रत धरम रत सब कर सील सनेहु। संकट सहत सकोच बस कहिय जो आयसु देहु॥*' (२९२) इत्यादि '*मोहि लगि*' क्योंकि मैं ही सबके संतापका कारण हुआ।

नोट—३ '*अब गोसाँइ मोहि देउ रजाई।*.....' इति। 'गो' (=पृथ्वी) के स्वामी हैं; पृथ्वीका भार उतारिये। पुनः, अवधके स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ मुझे आज्ञा हो, मैं आपकी राजधानीकी सेवा १४ वर्ष करूँगा, सेवक बनकर, राजा बनकर नहीं। '*अवधि भरि*' अर्थात् १४ वर्ष बीत जानेपर नहीं। इसमें वही ध्वनि है जो रघुनाथजीने विभीषणजीसे कही है—'*बीतें अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर*'। (लं०। ११५) (वाल्मी० २। ११२) के '**चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्॥ फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन। तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्बहिः॥**'''**चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम॥ न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्।**' (२३—२६) (अर्थात् चौदह वर्षोंतक मैं जटा और चीर धारण करूँगा, फल-मूल खाकर नगरके बाहर रहूँगा, इस प्रकार आपके आगमनकी प्रतीक्षा करूँगा। चौदह वर्षकी पूर्तिपर पहले ही दिन यदि आपको न देखूँगा तो मैं अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा।) इन वचनोंसे मिलान करनेपर पाठक देखेंगे कि मानसकल्पके भरतमें वाल्मीकीयके भरतसे कितना महदन्तर है! कहाँ वाल्मीकीयके उपर्युक्त रोंगटे खड़े कर देनेवाले वचन जिन्हें सुनकर श्रीरामजीको प्रतिज्ञा करनी पड़ी, यथा—'**तथेति च प्रतिज्ञाय**' और कहाँ मानसके प्रेमभरे कोमल वाक्य '*अब गोसाँइ मोहि देउ रजाई। सेवउँ अवध अवधि भरि जाई॥ जेहि उपाय पुनि पाय जनु देखइ दीन दयाल। सो सिख देइअ*'''। इन कोमल शब्दोंमें भी वह सारा भाव भरा है पर उनकी कटुता कठोरता नहीं है। गीतावलीमेंके '*तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभु चरन सरोज सपथ जीवत परिजनहि न पैहौ॥*' (२। २। ७६) में भी वही भाव है। वाल्मी० और अ० रा० में पादुकाओंके मिलनेपर ये वाक्य कहे गये हैं।

खर्रेमें पं० रामकुमारजी यह अर्थ लिखते हैं—'१४ वर्षतक अवधके प्रति आज्ञा दीजिये कि जिस सेवामें मैं बराबर लगा रहूँ।' भरतजीने तीन प्रार्थनाएँ दरबारके अन्तमें की थीं, उनमेंसे दो पूर्ण हुईं। तीसरेके प्रति कुछ उत्तर न मिला था, अब यहाँ उसीकी प्रार्थना पुनः कर रहे हैं।

पं०—'*जेहि उपाय पुनि पाय जनु*......' इति। 'कोसलपाल' का भाव कि मुझको देशपालनकी आज्ञा दी है, जब अवलम्ब दीजियेगा तभी मुझसे व्यवहार सधेगा। 'कृपाल' का भाव कि मेरा सुख चाहते हो तो मेरा तन तभी रहेगा जब अवलम्ब मिलेगा। 'दीनदयाल' अर्थात् आपके वियोगमें सभी दीन रहेंगे, आश्रय पाकर उसीसे सब सुखी रह सकेंगे अतः दीजिये।

पुरजन परिजन प्रजा गोसाँई। सब सुचि सरस सनेह सगाई॥ १॥
राउर बदि भल भव दुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परम पद लाहू॥ २॥
स्वामि सुजानु जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की॥ ३॥
प्रनतपालु पालहिं सब काहू। देउ दुहूँ दिसि ओर निबाहू॥ ४॥
अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किये बिचारु न सोचु खरो सो॥ ५॥

शब्दार्थ—**'सरस'**=सहृदय, भावुक, रसिक, भावकी उमंगसे भरे हुए, सुशोभित, अधिक बढ़े हुए। **'बदि'**=(सं० वर्त=पलटा) लिये, वास्ते, खातिर, यथा—*'इनकी बदि हम सहत यातना। हरिपार्षद अब आन बात ना॥'*—(रघुराज)। 'खरो सो'=खर (=तिनका) बराबर भी, थोड़ा-सा भी।

अर्थ—हे गोसाईं! अवधवासी, कुटुम्बी और प्रजा, सभी आपके नेह-नातेमें पवित्र और बढ़े-चढ़े हुए हैं *॥ १॥ आपके लिये संसारका दुःख और दाह भी (सहना) उत्तम है और आपके बिना परमपदका लाभ (प्राप्ति) भी व्यर्थ है॥ २॥ हे स्वामी! आप सुजान हैं, सभीके हियकी (दशा) और मुझ दासके हृदयकी रुचि, लालसा और रहनी जानकर॥ ३॥ हे प्रणतपाल प्रभु! आप सभीका पालन करेंगे और हे देव! आप दोनों तरफका ओर-छोर (आदि-अन्त) निर्वाह करेंगे॥ ४॥† सब प्रकारसे मुझे ऐसा बहुत बड़ा (दृढ़) भरोसा है और विचार करनेपर तिनकेके बराबर भी सोच नहीं रह जाता॥ ५॥

नोट—१ *'सब सुचि सरस सनेह सगाई'*''''' इति। शुचि अर्थात् पवित्र, निश्छल, निष्काम। ***'सनेह सगाई'*** का अर्थ दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक तो प्रेमका सम्बन्ध दूसरे प्रेम और सम्बन्ध। दूसरे अर्थमें सम्बन्धका भाव यह है कि श्रीरामजी हमारे माता, पिता, स्वामी, सखा, पुत्र इत्यादि हैं; हम उनके बालक, सेवक आदि हैं। यथा—*'सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात एहि ओर निबाहू॥', 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥', 'जननि जनक गुर बंधु हमारे। कृपानिधान प्रान तें प्यारे॥ तनु धनु धाम रामहितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारतिहारी॥'* (उ० ४७) सनेह और सगाई, यथा—*'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।'* (६५। ३) *'जहँ लगि जगत सनेह सगाई।'* (७२। ५)

नोट—२ *'राउर बदि भल भव दुख दाहू'''''''* इति। यथा—*'खेलिबे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नातें नरकहु सचु पैहौं या बिनु परमपदहु दुख दहिहौं॥'* (वि० २३१) *'तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस दुहूँ राजसमाजा॥'* (२९०। ८)''''''' *'तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते ही।'* (२९१। ३) देखिये। यहाँ 'अनुज्ञा' और 'प्रथम विनोक्ति' अलंकार है।

नोट—३ *'स्वामि''''''जानि सब ही की।''''' जन जी की'* इति। पहले दो अर्धालियोंमें पुरजन आदिकी दशा कही। उसीको यहाँ 'सब ही की' पदसे सूचित किया है और *'रुचि लालसा रहनि'* यह अपने मनकी कही (पु० रा० कु०)। रा० प्र० ने *'रुचि लालसा रहनि'* ये सबके साथ माना है। संसारमें अनेक योनियोंमें बारम्बार जन्म लेना, मरना यदि आपके प्रेमके लिये हो तो उत्तम है, सुख- दायक है।

गौड़जी—*'रुचि''''जी की''''सोचु खरो सो'* इति। भाव यह कि मेरी रुचि सेवा करनेकी, लालसा साथ रहनेकी और रहनि स्वामीके अनुकूल वानप्रस्थ दशाकी करनेकी, यह जो जीमें है वह तो स्वामी खूब जानते हैं। सो आप शरणागतपालक हैं, सबका पालन करेंगे। रुचि लालसा रहनि सब पूरी होगी। दोनों दिशिका अन्ततक निर्वाह करेंगे। वनवासकी प्रतिज्ञा भी रहेगी और मेरी रुचि लालसा रहनि भी रहेगी।

---

* खर्रा—अवधवासी और सप्तद्वीपवासी प्रजा निःछल प्रेममें सरस हैं और परिजन सगाईमें सरस हैं। अथवा, पुरजन, परिजन, प्रजा तीनों स्नेहमें शुचि हैं और सगाईमें सरस हैं।

† 'स्वामि, सुजान और प्रनतपाल' तीनोंको सम्बोधन मानकर भी अर्थ हो सकता है। रा० प्र०, पं०, पु० रा० कु० ने 'दउ निबाहू' का 'निबाह देते हो' ऐसा अर्थ किया है। 'दुहुँ दिसि'=लोक-परलोक दोनों—(पं०)।

आप देवोंका कार्य भी करेंगे और अयोध्याके बाहर मेरे साथ भी दिव्य शरीरसे रहेंगे। आप राजा और स्वामीकी तरह रहेंगे मैं युवराज और सेवकको तरह रहूँगा। दोनों ओरका निर्वाह होगा। मुझे अब सब समझमें आ गया। सो भारी और बहुत भरोसा हो गया है। मेरा सोच बेकार था।

आरति मोर नाथ कर छोहू। दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठु हठि मोहू॥६॥
येह बड़ दोष दूरि करि स्वामी। तजि सकोच सिखइअ अनुगामी॥७॥
भरत बिनय सुनि सबहि प्रसंसी। खीर नीर बिबरन गति हंसी॥८॥

शब्दार्थ—**बिबरन** (विवरण)=विवेचन; स्पष्ट-स्पष्ट रूपसे किसी वस्तुके समझने-समझानेकी क्रिया। बिवरना=एकमें गुथी हुई वस्तुको अलग-अलग करना।

अर्थ—मेरा दुःख और स्वामीकी कृपा दोनोंने मिलकर मुझे जबरदस्ती ढीठ कर दिया है। (अर्थात् ढीठ था नहीं पर इन दोनों कारणोंसे हो गया)॥६॥ हे स्वामी! इस बड़े दोषको दूर करके और संकोचको त्यागकर मुझ सेवकको शिक्षा दीजिये॥७॥ दूध और जलको अलग-अलग करनेमें हंसिनीकी-सी गतिवाली श्रीभरतजीकी विनय सुनकर सबने ही उसकी प्रशंसा की॥८॥

नोट—१ ***'दुहुँ मिलि कीन्ह ढीठु हठि मोहू'*** इति।—कभी सम्मुख बात न की थी, यथा—***'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन॥'*** (२६०) पर आपकी कृपा और मेरे दुःखने सम्मुख बातें करायीं, यथा—***'भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥ तब मुनि बोले भरत सन सब सँकोच तजि तात। कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय कै बात॥'*** (२५९) ***'छमिहि देउ अति आरति जानी।'*** (३००। ८) सम्मुख बोलना ढिठाई है। इसीको 'बड़ा दोष' कहते हैं। पुनः, स्वामी और सुजानसे बहुत कहना यह भी दोष है और ढीठता, यथा—***'सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि। आयसु देइअ देव अब''''''॥'*** (३००) ***'दूरि करि'*** अर्थात् इसका खयाल न करें और अब आगे यह दोष मुझमें न रहने दें। भाव कि अब अधिक कुछ न कहलाइये, अब शिक्षा दीजिये।

नोट—२ ***'''''''स्वामी। तजि सकोच सिखइअ अनुगामी'*** इति। श्रीभरतजी राजनीतिकी शिक्षा चाहते हैं। जिस प्रकार आप बतलायें उस प्रकार मैं राज्यकार्य करूँ, प्रजाका पालन करूँ, मैं तो सेवक मात्र हूँ—***'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।'*** यह भाव 'स्वामी, अनुगामी' का है। इधर श्रीरामजी संकोची हैं ही और यहाँ तो इस दरबारका प्रारम्भ ही ***'कहुँ न राम सम स्वामि सकोची'*** से हुआ है। संकोचको देखकर ही भरतजी बोलनेको खड़े हुए। अतः ***'तजि सकोच'*** कहा।

नोट—३ ***'खीर नीर बिबरन गति हंसी'*** इति। दरबारेआममें भरत-भाषणके आदिमें श्रीभरतजीकी वाणीकी सुन्दर हंसिनीसे उपमा दी थी, यथा—***'बिमल बिबेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥'*** (२९७। ८) उसीका अन्ततक निर्वाह दिखानेके लिये यहाँ भी 'हंसी' कहा। जो भाव वहाँ कहे गये वही यहाँ भी ले लीजिये। श्रीरामजीने भी लक्ष्मणजीको समझाते हुए भरतको हंस कहा है, यथा—***'सगुन खीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥'*** (२३२। ५-६) दोनोंका मिलान कीजिये। भाव वहाँ स्पष्ट कर दिये हैं। वहाँ भरतको हंस और यहाँ उनकी वाणी और विनयको हंसिनी कहा। भरत हंस, भरत-भारती हंसिनी। जैसे हंसिनी दूध-पानीको अलग कर देती है वैसे ही भरतकी विनयमें दोष, दुःख, स्वार्थ आदिका और प्रभुके गुणोंका विवरण है; विनय विवेकपूर्ण है।

गौड़जी—भाव यह कि भरतके विनयमें भी विवेक है, अपनी ढिठाईको दोषी ठहराते हैं, परंतु वह भी लाचारीके कारण आ गयी। 'मेरी आर्त्ति और प्रभुका छोह दोनोंने मिलकर बरबस मुझे ढीठ बनाया नहीं तो इतनी ढिठाई कभी हो नहीं सकती थी।' मिलान कीजिये—***'बिनय बिबेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥'***

दो०—दीनबंधु सुनि बंधु के बचन दीन छल हीन।
देस काल अवसर सरिस बोले राम प्रबीन॥ ३१४॥
तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरहि नृपहि घर बन की॥ १॥
माथे पर गुर मुनि मिथिलेसू। हमहिं तुम्हहिं सपनेहु न कलेसू॥ २॥

अर्थ—दीनजनोंके सहायक परम प्रवीण श्रीरामचन्द्रजी भाईके दीन और छल-रहित वचन सुनकर देश, काल और अवसरके अनुकूल बोले॥ ३१४॥ हे तात! तुम्हारी, मेरी और परिवारकी, घरकी और वनकी सारी चिन्ता गुरु वशिष्ठजी और राजा जनकको है॥ १॥ जब हमारे मस्तकपर गुरुदेव मुनि विश्वामित्रजी और मिथिलेश श्रीजनक हैं, तब हमको और तुमको स्वप्नमें भी क्लेश नहीं है॥ २॥

नोट—१ *'दीनबंधु······बचन दीन छलहीन'* इति। जहाँ दीनता है वहाँ प्रभु दीनबन्धु भी हैं। दीनता देख दयालु होते हैं, यथा—*'एहि देवा न दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।'* (वि० १६५) छलहीन हैं क्योंकि प्रभुका वचन है कि *'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।'* (५। ४४। ५) देश, काल, अवसरके भाव पूर्व आ चुके हैं, यथा—*'देस काल लखि समय समाजू।'* (३०४। ६) 'प्रवीण' विशेषण दिया क्योंकि इस गुत्थीको सुलझानेमें गुरु, मुनि और राजा आदि कोई समर्थ न हुए थे।

नोट—२ (क) *'घर बन की'* यथा—*'सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥'* (३०६। १) (ख) *'माथे पर गुर······'* अर्थात् ये सरपरस्त हैं, बराबर साथ हैं, रक्षक हैं, सार-सँभार करनेवाले हैं। तब सोच क्या? यथा—*'तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के।'* (विनय०)

पंजाबीजी लिखते हैं कि पूर्व गुरु और राजाका नाम लिया था, विश्वामित्रका नाम नहीं आया और समाजमें वे भी हैं, इनको पास देखकर उनके सम्मानार्थ यहाँ उनका भी नाम लिया। गुरु और मिथिलेशके बीचमें मुनिको कहकर जनाया कि मुनि बीचमें बैठे थे इसीसे उनको छोड़ना इस समय अयोग्य होता।

गुरुजीको स्पष्ट कह दिया अतः मुनिसे वामदेव, जाबालि आदि अभिप्रेत हैं जो राज्यके मन्त्री भी थे। यथा—**'वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः। अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः॥'** (वाल्मी० २। ११३। २) प० प० प्र० स्वामीजीका भी यही मत है कि यहाँ 'मुनि' से वामदेवजीका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि अवधके राज्यशासनके विचारमें ये वसिष्ठजीके साथ-साथ अधिकारी थे। यथा—*'बामदेव बसिष्ठ तब आए।'* (१६९। ७), *'बोले बामदेउ सब साँची।'* (१। ३५९। ७) *'बामदेव रघुकुल गुर ग्यानी।'* (१। ३६१। १) आगे *'तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु प्रजा पुहुमि रजधानी॥'* में भी उनका अन्तर्भाव है। विश्वामित्रजी अवधमें रहते भी नहीं।

मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु॥ ३॥
पितु आयसु पालिहिं दुहुँ भाई। लोक बेद भल भूप भलाई॥ ४॥
गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहु कुमग मग परहिं न खालें॥ ५॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई॥ ६॥
देसु कोसु परिजन परिवारू। गुर पद रजहिं लाग छरुभारू॥ ७॥
तुम्ह मुनि मातु सचिव सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥ ८॥

शब्दार्थ—पुरुषार्थ=पुरुषका लक्ष्य, कर्तव्य वा उद्योगका विषय। पराक्रम, जवाँमर्दी, पुरुषवत् कर्तव्य। छरुभारू=उत्तरदायित्व, जिम्मेदारी, सार-सँभारका भार, यथा—*'यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं' 'मोर······।'* (विनय०) 'पुहुमी'=पृथ्वी। खालें=गढ़ेमें, नीचे।

अर्थ—मेरा और तुम्हारा तो परम पुरुषार्थ, स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ यही है कि दोनों भाई

पिताकी आज्ञाका पालन करें* यह लोक और वेद दोनोंमें भला है और इसीसे राजाकी भी भलीभाँति भलाई है†॥ ३-४॥ गुरु, पिता, माता और स्वामीकी आज्ञा पालन करनेसे कुमार्गपर भी चलनेसे पैर खाली नहीं पड़ता (धोखा नहीं होता, चूक नहीं होती, गिरने या मोच खानेका भय नहीं रहता)॥ ५॥ ऐसा विचार कर, सब सोच छोड़कर अवधमें जाकर अवधि भर उसका पालन करो॥ ६॥ देश, कोश, परिजन और परिवार इन सबोंके सारसँभारका भार तो गुरुजीके चरण-रजपर है॥ ७॥ तुम तो मुनि, माता और मन्त्रियोंकी शिक्षा मानकर उसके अनुसार पृथ्वी, प्रजा और राजधानीका पालनभर करते रहना। अर्थात् रक्षक तो वे ही हैं, तुम निमित्त मात्र बने रहो॥ ८॥

नोट—१ *'मोर......।' 'लोक बेद भल भूप भलाई......'* इति। (क) पिताकी आज्ञा पालनके बहाने नीतिका उपदेश कर रहे हैं। (ख) *'मोर....'* श्रीभरतजीके सम्मान-हेतु अपना भी नाम लिया। (पं०) (ग) *'लोक बेद भल भूप......'*—अर्थात् नहीं तो किसीकी भलाई न थी। हम, तुम और राजा सभी अधर्मी कहलाते। राजाके दोनों वचन रहे इससे उनकी भलीभाँति भलाई है। (पु० रा० कु०) (घ) ये वचन गुरुके उपदेशसे मिलते हैं। गुरुजीके ***'करहु सीस धरि भूप रजाई। है तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥ परसुराम पितु अग्या राखी। मारी मातु लोक सब साखी॥ तनय जजातिहि जौबन दयेऊ। पितु अग्या अघ अजस न भयेऊ॥ अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन। ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥ १७४॥ अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोक परिहरहू॥ सुरपुर नृप पाइहि परितोषू। तुम्ह कहँ सुकृत सुजस नहिं दोषू॥'*** इन वचनोंसे यहाँके *'मोर तुम्हार......खालें'* के भाव स्पष्ट हो जाते हैं। (ङ) वाल्मीकीय सर्ग ११२ में देवताओं और ऋषियोंने यही कहा है—**'ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे॥ सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः। अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः॥'** (५-६) अर्थात् यदि तुम पिताको सुखी रखना चाहते हो तो श्रीरामचन्द्रजीका वचन मानो। हम लोग चाहते हैं कि श्रीराम अपने पितासे सदा अनृण रहें। कैकेयीका ऋण चुकानेसे ही राजाको स्वर्ग मिला है। यही भाव *'भूप भलाई'* का है।

नोट—२ (क) *'चलेहु कुमग......'*—नोट १ देखिये। (ख) *'गुर पद रजहिं लाग छरुभारू'* इति। 'सिरपर भार' है ऐसा मुहावरा है। पर ये कुलगुरु हैं, परम पूज्य हैं, इससे *'सिर छरुभारू'* न कहकर *'पदरज छरुभारू'* कहा—(पं०) भगवान् और संतों-भक्तोंके चरणों, रज, पनही आदिका ही आश्रय लिया जाता है। दूसरे इससे यह भी जनाया कि उनके पदरजके प्रतापसे ही सबकी रक्षा होगी, उनको भी रक्षाके लिये कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। पुनः, गुरुपदरजका महत्त्व ही ऐसा है—बालकाण्ड गुरुपदरज-वन्दना प्रथम दोहा देखिये। पुनः, यथा—*'जे गुरु चरनरेनु सिर धरहीं। ते जन सकल बिभव बस करहीं॥'......सबु पायउँ रज पावनि पूजे॥'* (अ० ३। ५-६)

नोट—३ *'तुम्ह मुनि मातु सचिव......'* इति। वाल्मीकीयमें, अमात्यों, मित्रों तथा बुद्धिमान् मन्त्रियोंसे परामर्श करके बड़े कार्योंको सम्पादित करनेको कहा है। यथा—**'अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः। सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय।'** (२। ११२। १७)

दो०—मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥ ३१५॥
राज धरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माँह मनोरथ गोई॥ १॥

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं (कि श्रीरामजीने कहा कि) मुखिया मुखके समान होना चाहिये कि

* अर्थान्तर—हमारा तुम्हारा स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ रूप परम पुरुषार्थ दोनों भाइयोंको पिताकी आज्ञा पालेगी; क्योंकि लोक-वेदमें भलीभाँति भूपकी भलाई है, उनकी आज्ञा क्यों न पालेगी।' (रा० प्र०)

† अर्थान्तर—राजाकी भलाई-(उनके व्रतकी रक्षा-) से ही लोक और वेद दोनोंमें भला है। (मानसाङ्क)

खाने-पीनेको तो एक है; पर समस्त अङ्गोंको विवेकसहित पालन-पोषण करता है॥ ३१५॥ राजधर्मका सर्वस्व इतना ही है जैसे मनके भीतर मनोरथ छिपा रहता है॥ १॥

नोट—१ *'मुखिया मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक।'''* इति। (क) मिलान कीजिये *'सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।'* (३०६) वहाँ सेवक और स्वामीका भाव कुछ लिखा गया है। वहाँ *'कर पद नयन'* अङ्गोंके नाम दिये इसीसे यहाँ नाम न देकर केवल *'सकल अँग'* कहा। वहाँ *'कर पद नयन'* तीनहीको कहा था क्योंकि वहाँ सेवक और स्वामीकी रीति कह रहे थे। कर, पद और नेत्र सेवकका काम करके मुखरूपी स्वामीको लाकर देते हैं। यहाँ मुखको मुखिया कहा, इसीसे शरीरके समस्त अङ्गोंका पालन-पोषण करना कहा, केवल कर, पद और नेत्रोंका नहीं। सकल अङ्गमें समस्त कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण (तथा शरीरके भीतर और बाहरके सभी अङ्ग) [जैसे, प्लीहा, यकृत्, मूत्रपिण्ड, रक्ताशय, मांस, मज्जा, शुक्र, रुधिर, ज्ञानतंतु, षट्चक्र, पंचमस्तिष्क इत्यादि—(प० प० प्र०)] इत्यादिका ग्रहण होगा। वहाँ *'मुख सो साहिब होइ'* कहा पर उसका धर्म न कहा था और यहाँ उसका धर्म कहा। दोनोंको एकत्र करनेसे इस उदाहरणका पूर्ण भाव समझमें आ जाता है।

(ख) *'खान पान कहुँ'—'खान'''* से विविध विषयोंका सेवन जानना चाहिये। देखिये—'**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**' (गीता) (प० प० प्र०)।

'सहित बिबेक' का भाव कि जिसके लिये जितने पालन-पोषणकी जरूरत होती है उतना ही उसका पालन-पोषण करता है। नेत्र, हाथ, पैर जो कुछ लाकर मुखको देते हैं अकेला वही सब खा लेता है पर खानेके पश्चात् जिस-जिस अङ्गको जिस-जिस रसकी जितनी आवश्यकता है जिसमें वह स्वस्थ और पुष्ट रहे उतना-उतना उन्हें देकर सभी अङ्गोंका पालन करता है। यह नहीं कि जिसको अधिक चाहिये उसको कम दे और जिसको कम चाहिये उसको अधिक दे। ऐसा करनेसे रोग उत्पन्न हो जाता है।

प० प० प्र०—*'सहित बिबेक'* से देश, काल, परिस्थिति, ऋतु, शत्रु, मित्र, उदासीन, सज्जन, दुर्जन इत्यादिका ज्ञानपूर्वक विचारसे व्यवहार सूचित किया। राजनीतिकी दृष्टिसे राजधर्मका जितना विकास और विस्तार गीताके '**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥**' इस श्लोकका हो सकता है उतना ही इस दोहेका। शुक्राचार्य, चाणक्य और कणिक आदिके राजनीति ग्रन्थोंसे मिलान कर इस दोहेपर लोग राजनीतिका एक बड़ा ग्रन्थ निर्माण कर सकते हैं।

पु० रा० कु०—(क) यहाँ भोक्ता मुख भरत और अङ्ग देश, प्रजा, सैन्य, मन्त्री, मित्र, कोश आदि (राजाके अङ्ग) हैं। भाव यह कि तुम इन सब अङ्गोंका पालन-पोषण विवेकपूर्वक करते रहना जिसमें वे सब तुम्हारे काम आवें। जिसका जैसा अधिकार है उसीके योग्य उसका पालन करना। मुख देखनेमें सब अकेला खाता है पर वस्तुतः वह सब अङ्गोंको यथायोग्य बाँट देता है, अपने पास कुछ नहीं रखता। यथा—*'आनन (आपन ?) छोड़ो साथ जब ता दिन हितू न कोइ।'''* (दो० ५३४) (ख) जैसे मुख एक, वैसे ही मुखिया एक ही चाहिये। जैसे एक मनमें अनेक मनोरथ रहते हैं वैसे ही इस दोहेमें सम्पूर्ण राजधर्म हैं।

वि० त्रि०—*'राज धरम''''गोई'* इति। मनमें मनोरथ सूक्ष्म रूपसे अवस्थान करता है, जितनी बाह्य क्रियाएँ हैं वे उसीकी स्थूल रूप हैं। इसी भाँति ***'मुखिया मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥'*** समाज एक शरीर है, मुखिया उसका मुख है। सम्पूर्ण शरीर प्रयत्न करके जो कुछ अर्जन करता है, उसे मुखको अर्पण करता है। मुख उसे कूट-पीसकर अर्थात् एकीकरण करके, पाचन यन्त्र मन्त्रिमण्डल आदिके सुपुर्द करता है, वहाँसे वह रस-रक्तादि अर्थात् वेतन-पुरस्कारादिरूपसे यथायोग्य सब अङ्गोंकी पुष्टि करता है। ध्यान देनेकी बात है कि मुख अपने पास कुछ भी नहीं रखता। दाँत आदिमें यदि कुछ लगा रह जाय तो उसे तृणके सहारे निकालकर अपनी सफाई किया करता है। इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये वैद्यकके बड़े-बड़े ग्रन्थ बने हुए हैं, जिनमें इस विषयको बड़े विस्तारसे समझाया गया। यह सार सबका इतना ही है कि सब अङ्गोंका पोषण हो, और बड़े विवेकके साथ हो,

जिस रससे नखका पोषण होता है वह आँखके पोषणके लिये न जाय, और जिससे आँखका पोषण होता है, वह नखके पोषणके लिये न जाने पावे। इस विवेकमें तनिक-सी ढिलाई पड़नेसे समाजरूपी शरीरका ही नाश हो जाता है, यहाँ साम्यवाद नहीं चलता।

पं०—*'राज धरम सरबस एतनोई।'* इति। (क) राजधर्मके अनेक भेद ग्रन्थोंमें कहे हैं पर सर्वस्व अर्थात् सिद्धान्त यही है। जैसे मनमें मनोरथ विचारकर रखते हैं वैसे ही सेना और प्रजाकी रक्षा करना। अथवा, (ख) भाव कि राजमन्त्र (मनोरथ) मनमें छिपा रखना। यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है।

पाँ०—*'मुखिया मुखु सो चाहिए'* ' बस इसीमें सम्पूर्ण राजधर्म है जैसे छोटेसे (सूक्ष्म) मनमें मनोरथ बड़े-बड़े छिपे रहते हैं।

शीला—(क) दोहेमें सामान्य धर्म कहकर चौपाईमें विशेष धर्म कहा कि सर्वस्व इतना ही है जैसे मनमें मनोरथ छिपाये रहते हैं। (ख) पुनः, जैसा समय होता है वैसा ही मन हो जाता है। पुनः, वैसे ही राजा समरमें वीररस, नृत्य आदिमें शृङ्गार और प्रजापालनमें करुणारसमें प्राप्त होता है तब सब जीवोंका स्वार्थ चलता है। यथा—*'बिटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ कंचुकि बिनहिं बनाए। मन महँ तथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाए॥'* (वि० १२४), *'असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे। सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे॥'* (वि० १२४)

गौड़जी—कुछ समालोचक कहते हैं कि 'गुसाईंजीने राजा-महाराजाओंकी सभा नहीं देखी थी। वे विरक्त थे, उन्हें ऐसा कोई प्रसङ्ग भी नहीं मिल सकता था। इसीलिये उन्होंने ऐसा वर्णन किया है जैसा कि साधारण जमींदारकी सभाका होता है।'

समालोचक महोदय ऐसा समझते मालूम होते हैं कि मानो सब देशोंमें और सब कालोंमें राजाओंका दरबार और व्यवहार एक-सा होता है। उनका ऐसा समझना ही बड़ी भारी भूल है। भिन्न-भिन्न देशों और कालोंके छत्रधारियोंके दरबारमें यात्री लोग गये हैं और उन्होंने वर्णन भी छेड़े हैं। यात्रासम्बन्धी साहित्य बहुत प्राचीन तो मिलता नहीं, परंतु जितना कुछ मिलता है उससे यह नहीं कहा जा सकता कि सबके दरबार एक-से होते हैं। देश और कालके भेदसे बड़ा अन्तर पड़ जाता है। तुलसीदासजी यदि किसी राजदरबारके कवि होते तो अधिक-से-अधिक जिन दरबारोंमें उनका प्रवेश होता, उन्हें दरबारोंसे और अपने ही कालके दरबारोंसे कल्पना ग्रहण कर सकते थे। ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उन्हें अपने समयके दरबारोंका अनुभव न था। उन्होंने पचास वर्षकी अवस्थातक खूब देशाटन किया। अपनी कुटियामें तो वे अस्सी वर्षकी अवस्थातक भी बैठे रहते नहीं पाये जाते। यात्रीका अनुभव जितना कुछ कि अपने कालका हो सकता है तुलसीदासजीको अवश्य था। उनकी युवावस्थामें सिकन्दरलोदीके अत्याचार हो चुके थे। पानीपतकी लड़ाई हो चुकी थी। बाबर और हूमायूँ और शेरशाहसूरका राज्य समाप्त हो चुका था। अकबर बादशाहने राज्य किया और उनके सामने शरीर छोड़ा। जहाँगीर बादशाह उन्हींके सामने तख्तपर बैठा। बनारसमें मुसलमानोंके अनेक अत्याचार तुलसीदासजी देख चुके थे। खानखाना अब्दुलरहीमसे मैत्रीका सम्बन्ध था। बादशाहने इन्हें अपने दरबारमें भी बुलाया था परंतु यह भगवान्‌के दरबारके हो चुके थे, शाही दरबारकी परवा न की। इनका परिचय उस समयकी राजनीतिसे अत्यन्त घनिष्ठ था। ऐसे प्रौढ़, वृद्ध, अनुभवशील यात्री कविके लिये कुटियामें बैठे आजकलके वैरागीकी-सी कल्पना करना समालोचनाकी बुद्धिका उपहास है।

उन्होंने राजसभाके वर्णनमें त्रेतायुगकी राजसभाओंका कल्पनाचित्र दिया है। रामायणमें दो प्रकारके राजाओंका वर्णन है और दो प्रकारकी सभाएँ हैं। दैवीसभा रामराज्यकी सभा है। इसमें भयका काम नहीं है। व्यर्थके रोबकी जरूरत नहीं है। रामराज्य आतंकका राज्य नहीं है। सब भूतोंमें, अखिल विश्वमें, उन सब लोगोंको अभय प्राप्त है जो श्रीरामचन्द्रजीकी राजसभामें आते हैं, यह प्रेम और भक्तिका आदर्श राज्य है। इस सभामें भी भरत, वसिष्ठ और जनकके सिवा कोई श्रीरामचन्द्रजीके सामने बोलता नहीं देखा जाता। ये लोग भी बहुत बड़े-बड़े लोग हैं। अनुभवी हैं, तपोधन हैं, चरित्रवान् हैं, बहुश्रुत हैं, गुणवान् हैं और

विद्वान् हैं। क्या जमींदारके दरबारमें ऐसे ही लोग बोलते हैं? क्या ऐसे ही चुने हुए विद्वान् इकट्ठे होते हैं? क्या ऐसी ही सार-गर्भित, *'अरथ-अमित अति आखर थोरे'* व्याख्यान दिये जाते हैं? आजकलके जमींदारोंकी तो क्या बात है, संसारके भारी-भारी राजसंस्थाओंके महाप्रभुओंके सामने भी तो ऐसी वक्तृताएँ नहीं होतीं। अमेरिकाकी काँग्रेसमें और अँग्रेजोंकी पार्लमेंटमें जहाँ एक दूसरेको बड़ी सभ्य और शिष्ट रीतिसे खुल्लमखुल्ला गालियाँ दी जाती हैं और परस्पर शाइस्तगीके घूसोंका प्रहारतक होता है, क्या इस तरहका पारस्परिक सम्भाषण कभी सुना गया है? रामकी सभा तो आदर्श सभा है। इसमें तो वही बातें दिखायी गयी हैं जिनका अनुकरण सभी अच्छी सभाओंको करना उचित है। त्रेतायुगकी सभाओंका अनुभव कलियुगके तो किसी लेखकको हो नहीं सकता; परन्तु पुरानी रामायणोंमें जो सभाओंके वर्णन हैं और महाभारतमें सभाओंके वर्णन और राजाओंके पारस्परिक व्यवहार जैसे दिये हुए हैं उनका मुकाबिला तुलसीदासजीके वर्णनोंसे करना चाहिये, और यह देखना चाहिये कि तुलसीदासजीका वर्णन प्राचीन राजसभाओंके आदर्शपर है, अथवा आजकलके जमींदारोंकी सभाओंके नमूनेपर। किसी समालोचकने ऐसा तनिक भी प्रयत्न नहीं किया है यह उन्हीं लोगोंका कर्तव्य है जो यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि मानसकी सभाएँ प्राचीन आर्य संस्कृतिकी राजसभाएँ नहीं हैं बल्कि आजकलकी जमींदारोंकी-सी सभाएँ हैं। मेरे मिलानेसे तो त्रेतायुगकी यह सभाएँ द्वापरके अन्तकी सभाओंसे अधिक सभ्य और राम-राज्योचित हैं।

रामचरितमानसमें आसुरी सभाओंका भी वर्णन है। रावणकी सभाओंमें बहुत-बहुत भारी आतंक है। भयका राज्य है। उसके यहाँ आसुरी नीति चलती है। समालोचकोंको यदि आजकलके-से उद्दण्ड; दमननीतिवाले शासकोंकी सभाका चित्र चाहिये तो रावणकी सभाको देखें। उनके मनमें यदि नवाबोंके दरबारका आदर्श बैठ गया हो तो वह नवाबोंके नवाब रावणकी सभापर विचार करें। उसमें भी रावण जब राजदूतका अपमान करता है, तब राजदूत भी तुर्की-ब-तुर्की जवाब देता है। भगवान् कृष्णका दौत्यकर्म और अपमानवाली घटनाका मुकाबला करना चाहिये।

यहाँ अन्तिम सभामें भगवान् रामचन्द्रने चलती बेर भरतको राजधर्म एक ही सूत्रमें समझाया है। वाल्मीकिजीने यहाँ अनेक प्रश्न कराये हैं वहाँ गोस्वामीजीने सबका निचोड़ एक दोहेमें रख दिया है। यह गोस्वामीजीका अपूर्व अनुपम व्यञ्जनाकौशल है।

प० प० प्र०—गोस्वामी तुलसीदासजीके समान अन्तर्दर्शी कविको इन चर्मचक्षुओंसे देखनेकी आवश्यकता भी नहीं। वे अपने विवेकविलोचनसे, ज्ञाननयनसे सब कुछ देख सकते हैं। वाल्मीकीयमें जो राजदरबारका, अन्य अनेक स्थलोंका तथा सुग्रीवके मुखसे चारों दिशाओंके देशों-विदेशोंका वर्णन है वह क्या उन्होंने प्रत्यक्ष चर्मचक्षुओंसे देखा था। ऐसे भगवत्कृपाङ्कित संत कवि अति दूर दर्शन-श्रवणादि कर सकते हैं। आज भी संसारमें ऐसे दैवीशक्ति सम्पन्न पुरुष हैं जो बन्द कमरेमें बैठे हुए भी अन्यत्र कहाँ कौन क्या कर रहा है देख लेते हैं। यह तो योगकी एक क्षुद्र सिद्धि है।

पं० रामचन्द्र (तुलसीग्रन्थावलीसे उद्धृत)—गुसाईंजीने महाराज दशरथ तथा रामचन्द्रजीकी सभाका तथा प्रजाजनसे वार्तालापका जो वर्णन किया है उसको देखकर एक समालोचक महाशय लिखते हैं, कि 'गुसाईंजीने राजामहाराजाओंकी सभा नहीं देखी थी। वे विरक्त थे। अपनी कुटियामें पड़े रहते थे। उनको नहीं मालूम था कि राजाओंकी सभामें किस प्रकार बातचीत और व्यवहार होता है, इसीलिये उन्होंने ऐसा वर्णन किया जैसा कि साधारण जमींदारका होता है।'

....हम यह जरूर कहेंगे कि इन्होंने राजाका जो आदर्श अपने सामने रखा है; उसीको आद्योपान्त निबाहनेके लिये ही ऐसा वर्णन किया है। वे राजाको हौआ नहीं बनाना चाहते थे। राजाका कृत्रिम रूप भारतीय नहीं, विदेशी है। गुसाईंजीने राजा-प्रजामें पिता-पुत्रका सम्बन्ध दिखानेका प्रयत्न किया है। प्रजामें नम्रता है, राजामें सौजन्य है।

एक ओर महत्त्वकी ओर आकर्षित होनेवाली प्रजा है, दूसरी ओर अपने शरीरतकको देखकर

उस महत्त्वकी रक्षा करनेवाला राजा है। जिन गुणोंसे लोक अपना मङ्गल समझता है उनका पूर्ण विकास राजामें देखकर वह मुग्ध होता है और सदाचारकी ओर उत्तेजित होता है। राजकुल मनुष्यकुल ही है। कवि उसके उन्हीं व्यवहारोंको दिखाकर अपना प्रधान लक्ष्य साधता है, जो मनुष्यके उच्च भावोंके उत्तेजक हैं। रूखे-सूखे रूढ़ व्यवहार या असामयिक हृदयशून्य सम्भाषणसे कविकी अर्थसिद्धि नहीं हो सकती।''''

अब यह देखना है कि कविकी दृष्टिमें राजाका कर्तव्य क्या है। वह प्रजाका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता विधाता और स्वामी ही है अथवा सेवक या माँ-बाप भी? गुसाईंजीने राजाके कर्तव्यका वर्णन थोड़ेमें बहुत ही सुन्दर शब्दोंमें कर डाला है—

'मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुँ एक। पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥'

प्रजाके प्रति राजाका क्या कर्तव्य है, वह भी सुनिये—

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'

केवल प्रजाको सुखी रखनेहीसे राज-कर्तव्यकी इति-श्री नहीं। इतनेपर भी स्वराज्य, सुराज्यका अन्तर रह ही जाता है। गुरु वसिष्ठजी आज्ञा देते हैं—*'करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोर।'* इसके द्वारा एकतन्त्र-शासनकी निरंकुशताका लोप हो जाता है और सुराज्यके साथ स्वराज्यकी भी झलक दिखायी देती है—(पूर्व भी इसपर लिखा जा चुका है)।

☞ यह प्रजा और राजाके सम्बन्धकी राजनीतिका मानो सूत्र ही है। इस एक सूत्रमें सारी राजनीतिकी रूपरेखा बतला दी गयी है।

चित्रकूटमें भरत-राम-मिलाप होनेपर जो प्रश्न उनसे श्रीरामजीने किये उसमें मन्त्रियोंके गुणों और राजाओंके धर्मका सार भी आ जाता है। उन्होंने पूछा—अपने समान विश्वसनीय, शूर, पण्डित, जितेन्द्रिय, कुलीन और अभिप्रायके समझनेवालोंको ही तुमने मन्त्री बनाया है न? राजाओंकी विजयका मूल मन्त्र यही है। अतः शास्त्रवेत्ता और मन्त्र गोप्य रखनेवाले मन्त्रियोंसे राजाकी रक्षा होती है।''''तुम्हारा निश्चय किया हुआ मन्त्र लोगोंको कार्यकी सिद्धिके बहुत पहले ही मालूम तो नहीं हो जाता।''''बड़े कामोंपर बड़ेको, मध्यमपर मध्यमको और छोटेपर छोटे भृत्यको नियुक्त किया है? सेनापति तुमसे प्रसन्न है, तुममें प्रेम रखता है? सेनाके मुख्य योधा बली हैं? तुम उनका आदर-सत्कार तो करते हो न? सेनाका भोजन और वेतन देनेमें विलम्ब तो नहीं करते हो? समयपर अन्न और वेतन न मिलनेसे सेवक स्वामीसे असन्तुष्ट हो जाते हैं जिससे बड़ा अनर्थ हो जाता है। परिवारके लोग तुम्हारे कार्यके लिये प्राण न्योछावर करनेको तैयार रहते हैं न?''''(वाल्मी० सर्ग १००)

गौड़जी—वाल्मीकिरामायणके इन सारे प्रश्नोंका मर्म *'मुखिआ''''बिबेक'* इस शरीरके रूपकमें सर्वथा घटित हो जाता है। यह राजधर्मका सूत्र है। गोस्वामीजीका व्यञ्जना कौशल वाल्मीकि आदिसे कितना बढ़ा हुआ है। कहा भी है, 'राज-धर्म सर्वस्व इतना ही है।' गोस्वामीजी जान-बूझकर यह अद्भुत सूत्र देते हैं।

बंधु प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। बिनु अधार मन तोष न साँती॥ २॥
भरत सीलु गुर सचिव समाजू। सकुच सनेह बिबस रघुराजू॥ ३॥
प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**'पावरी'**=(पावँड़ी)=पादत्राण, खड़ाऊँ।

अर्थ—श्रीरामजीने श्रीभरतजीको अनेक प्रकारसे प्रबोध किया परन्तु बिना अवलम्बके उनके मनको न सन्तोष ही हुआ और न शान्ति॥ २॥ इधर भरतजीके शील और उधर गुरुजनों, मन्त्रियों और समाजके संकोचसे रघुनाथजी संकोच और स्नेहके विशेष वश हो गये॥ ३॥ अंततोगत्वा प्रभुने कृपा करके खड़ाऊँ दिये। भरतजीने उन्हें आदरपूर्वक सिरपर धर लिया॥ ४॥

नोट—१ *'बंधु प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती'* इति। भाव कि विनय, प्रेम, नीति, धर्म और वह सब बुद्धि तुममें है जिससे तुम राज्यका तथा पृथ्वीका पालन कर सकते हो, उसपर गुरु और वामदेवादि मुनि, अमात्य, मन्त्री, माता सब तुम्हारी रक्षामें हैं तब तुम्हें किस बातका डर? उनके परामर्शसे सब कार्य करते रहना, पिताको असत्यसे मुक्त करनेके लिये मेरा वनवास करना आवश्यक है। तबतक तुम राज्यको सँभालो, मैं वचन देता हूँ कि चौदह वर्षके पश्चात् मैं राजा बनूँगा। चौदह वर्ष व्यतीत होते कुछ जान न पड़ेंगे। गी० २। ७५ में जो कहा है—*'काहे को मानत हानि हियो हौ। प्रीति नीति गुन सील धर्म कहँ तुम अवलंब दिये हौ॥ तात जात जानिबे न ए दिन करि प्रनाम पितु बानी। ऐहौं बेगि धरहु धीरज उर कठिन काल गति जानी॥ तुलसिदास अनुजहिं प्रबोधि'''*, यह सब *'बहु भाँति प्रबोध'* से जना दिया। श्रीत्रिपाठीजी इस प्रकार समझाना कहते हैं—*'तुम्हारे निबाहे निबहेगी सबही की बलि, उर धरि धीर धर्म मारग संवारिये। जामे बिजय आनंद बधाई तिहुँ लोक बजै, बिप्रसुरसाधु महि संकट निवारिये॥ होवै सुर काज महाराजको बचन साँच, तात कुल कीरति पताका फहराइये। बचन तिहारो मानि आइके करौंगो राज, अवधि बिताय तौं लों अवध सँभारिये॥'*

नोट—२ *'भरत सीलु गुर सचिव'''*'। इति। (क) श्रीभरतजीका स्वभाव और गुरु आदिको देखकर प्रेम-विवश सकुचे; क्योंकि भरत प्रेमशील हैं, ये आधार लिये बिना प्रसन्न नहीं होते और गुरु आदि कहेंगे कि विदा करना है तो आधार दे दें, बारंबार क्यों कहलाते हैं। अथवा, वस्त्र आदि दे नहीं सकते; उसके देनेसे मानो इनको भी राज्यत्याग उदासी वेष धारण करनेकी आज्ञा सूचित होगी, अतः सकुचेकी क्या दें। (पं०) (ख) गुरु आदिका संकोच कि इनके सामने कैसे भरतको खड़ाऊँ दें और दूसरी ओर भरतका शील-स्नेह भी प्रबल है। आखिर स्नेहका पल्ला भारी पड़ा, उसके आगे संकोच (नेम, लोक, शिष्टाचार) जाता रहा, इसीसे *'करि कृपा'* पद दिया, नहीं तो संकोच न त्याग करते।

नोट—३ *'प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्ही'* इति। खड़ाऊँ कहाँसे आये? प्रभुका तो नंगे पैर होना कहा गया है, यथा—*'बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाये।'* (२६२। ५) भरतजी तिलकसमाजके साथ इन्हें स्वयं लाये थे ऐसा वाल्मीकीयसे जान पड़ता है यथा—'**अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते। एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥**' (२१) '**सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च। प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने॥**' (वाल्मी० २। ११२। २२) अर्थात् श्रीभरतजीने कहा कि स्वर्णसे विभूषित पादुकाओंको आप पैरोंमें पहनें। ये ही सब लोगोंका योगक्षेम करेंगे। पुरुषसिंह रामजीने खड़ाऊँपर चढ़कर उनको उतारकर महात्मा भरतको दे दिया। यही अ० रा० का मत है। वहाँ श्रीभरतजीने कहा है कि 'आप मुझे राज्यशासनके लिये अपनी जगतपूज्य चरणपादुकाएँ दीजिये। जबतक आप न लौटेंगे तबतक मैं उनकी सेवा करूँगा।' ऐसा कहकर उन्होंने उनके चरणोंमें दो दिव्य पादुकाएँ पहना दीं। यथा—'**पादुके देहि राजेन्द्र राज्याय तव पूजिते। तयोः सेवां करोम्येव यावदागमनं तव॥**' (२। ९। ४९) **इत्युक्त्वा पादुके दिव्ये योजयामास पादयोः।**' वही इनकी भक्ति देख श्रीरामजीने इनको दे दीं। श्रीअयोध्याजीको लौटते हुए वाल्मीकीयमें श्रीभरतजीका श्रीभरद्वाजजीके आश्रममें पुनः जाना और उनके पूछनेपर यह कहना लिखा है कि महाप्राज्ञ वसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा कि 'प्रसन्नतापूर्वक यह स्वर्णमण्डित पादुका आप भरतको दें और महाप्राज्ञ भरत इनके द्वारा अयोध्यामें योगक्षेम करें।' तब उन्होंने ये पादुकाएँ राज्यके लिये मुझे दीं। यथा—'**एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह। एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते॥ अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरो भव।**' (२। ११३। १२) '**एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः॥ पादुके हेमविकृते मम राज्याय ते ददौ।**' (१३) इससे यह जान पड़ता है कि जब भरतजीने पादुकाएँ सामने रखकर पहननेकी प्रार्थना की और श्रीरामजीने उन्हें पहना तब वसिष्ठजीने ऐसा कहकर वे पादुकाएँ उनको दिला दीं। वसिष्ठजीकी स्वयं आज्ञा होनेसे संकोच भी दूर हो गया। पर मानसके *'प्रभु करि कृपा'* शब्द जना रहे हैं कि श्रीरामजीने श्रीभरतजीके प्रेमवश सङ्कोच तोड़कर पादुकाएँ दीं। कल्पभेदसे दोनों भाव हो सकते हैं। गी० २। ७५ में

'*प्रभु चरनपीठ निज दीन्हे*' कहा है। इससे यह भी हो सकता कि पनही नहीं पहने थे। पर पादुकाएँ साथ थीं वही 'निज पादुका' इस कल्पमें दी हो।

नोट—४ '*सादर भरत सीस धरि लीन्हीं*'। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि चरणपादुकाओंको प्रणाम किया, फिर उन्हें लेकर उनकी प्रदक्षिणा की और उनको हाथीपर पधराया और विदा होनेपर उनको सिरपर धारण करके प्रसन्न होकर रथपर बैठे। यथा—'**स्वपादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत्।**' (२३)…। '**स पादुके ते भरतः स्वलंकृते महोज्ज्वले संपरिगृह्य धर्मवित्। प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि॥**' (वाल्मी० २। ११२। २९) '**ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा॥**' (वाल्मी० ११३। १) गोस्वामीजीने अन्तिम बात लिखकर जनाया कि बस अब विदा हो रहे हैं और इसी प्रकार सिरपर रखे हुए अवधको जायेंगे, अब भरतको कुछ और कहना नहीं है। वाल्मीकीयमें खड़ाऊँ पानेपर भी भरतजीका बोलना लिखा है। पर यहाँ अवलम्ब पाकर सेवकका भाव पूर्णरूपेण चरितार्थ किया है।

पं०—खड़ाऊँ ही क्यों दिये? क्योंकि सेवक हैं पादुकाके अधिकारी हैं। अथवा पादुका देकर लक्षित किया कि ये देखनेमें दो हैं पर वस्तुतः एक हैं वैसे ही हम तुम कथनमात्र दो हैं वस्तुतः एक हैं। अथवा, भरत-शत्रुघ्न दो और ये भी दो। इनसे दोनों प्रसन्न रहेंगे (विशेष नोट २ में देखिये)।

चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥५॥
संपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के॥६॥
कुल कपाट कर कुसल करम के। बिमल नयन सेवा सुधरम के॥७॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सियरामु रहे तें॥८॥

शब्दार्थ—'**चरनपीठ**' (चरण+पीठ=पीढ़ा, आसन)=खड़ाऊँ। '**जामिक**' (याम=पहर)= पहरुआ, पहरेदार, चौकीदार। **संपुट**=ढक्कनदार पिटारी या डिबिया। डिब्बा। '**कुल**'=वंश। '**कपाट**'=किवाँड़े।

अर्थ— करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजीके दोनों खड़ाऊँ मानो प्रजाके प्राणोंके (रक्षाके) लिये दो पहरेदार हैं॥५॥ श्रीभरतजीके स्नेहरूपी रत्नके लिये डब्बा (ढक्कन और पेंदा दो फालवाले) हैं। जीवके यत्नके लिये मानो युगल अक्षर हैं॥६॥ (रघु-) कुलके रक्षार्थ किंवाड़े हैं। कुशल कर्मके सहायक मानो कुशल हाथ हैं। सेवारूपी सुधर्मके लिये निर्मल नेत्र हैं॥७॥ अवलम्बके पानेसे श्रीभरतजी ऐसे आनन्दित हैं जैसे श्रीसीतारामजीके (साथ वा घरपर) रहनेसे सुखी होते॥८॥

नोट—१ '*चरनपीठ करुनानिधान*' इति। 'करुनानिधान' कहा, क्योंकि अपने जनोंके दुःखको देखकर हृदयमें दुःखी होकर जनोंके दुःखके निवारणार्थ कृपा करके पादुकाएँ दी हैं। यही करुणाका लक्षण है। यथा—'**परदुःखानुसन्धानाद्विह्वलीभवनं विभोः। कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्त्तानां भीतिवारकः।**' (वै०)

नोट—२ '*जुग जामिक प्रजा प्रान के*' इति। (क) पहरेदार पदार्थकी रक्षा करते हैं, पादुकाएँ सबके प्राणोंकी रक्षा करेंगी। 'प्रजा प्राण' का अर्थ दो प्रकार किया जाता है—प्रजारूपी प्राणके, प्रजाके प्राणके। भाव यह कि इनके द्वारा अवधवासियोंके प्राणोंकी रक्षा होगी, वे जीते रहेंगे, मरने न पायँगे। एवं प्रजाकी रक्षा भरण-पोषण योगक्षेम होगा। प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं '*चलत प्रात लखि निरनउ नीके। भरत प्रानप्रिय भे सबही के॥*' इस प्रमाणसे 'प्रजाप्राण' का अर्थ 'भरतजी' भी सुसंगत है। दोनों अर्थ लेना सयुक्तिक है। पुनः, (ख) जिसके ऊपर पहरा होता है वह बाहर नहीं जा सकता, वैसे ही सबके प्राणोंपर ये पहरेदार हैं। उनको वियोगमें निकलने न देंगे, यथा—'*नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥*' (५।३०) मिलान कीजिये—'*प्रभु चरन पीठ निज दीन्हें। मनहु सबनि के प्रान पाहरू भरत सीस धरि लीन्हें॥*' (गी० २।७५) (ग) पहरेदार पगिया बाँधे रहते हैं यहाँ खूँटियाँ पगिया हैं। (रा० प०) (घ) दो पाहरू कहनेका भाव कि एक दिनमें एक रातमें चार-चार पहरका

पहरा देते हैं। (नोट—पर ये अप्राकृत पाहरू हैं, ये दोनों ही निरन्तर दिन-रात साथ ही रहकर पहरा देते हैं।) (ङ) मयंककारका मत है कि यहाँ 'जामिक' का अर्थ संयम है। प्राण-रक्षाके लिये मुख्य संयम अन्न-जल है। अतएव 'जामिक' यहाँ अन्न-जलका बोधक है। ये भरतजीको अन्न-जल-सदृश प्राप्त हुए जिसका अवधवासी सेवन करके अपने प्राणको पुष्ट करते हुए अवधि काटेंगे।

रा० प्र०—रामरणरंगमें पाँवड़ीके भाव यों कहे हैं—*'कंचन मनि रतन जड़ित रामचन्द्र पाँवरी। दाहिन सो राम बाम जनक राय डाँवरी॥ खूटी दुइ वीर प्रजाप्रानकी रखावरी। मिलन समै कुलकपाट जुगलकी लखावरी॥ ऊपरके आधे कर धरमकी बनावरी। एड़िनके जनु विचार लोचन मन भावरी॥ संपुट तर मिलत होत बिन्द जोनि भावरी। आखर जुग देखि बढ़्यो देवनकी चाव री॥'*

नोट—३ *'संपुट भरत सनेह रतन के'* इति। भाव कि श्रीसीतारामजीके चरणोंमें श्रीभरतजीका निर्मल स्नेह था। श्रीरामजीके वनवाससे वियोगके कारण अब उनके स्नेहका आधार न रह गया था। अत: उस स्नेहरूपी रत्नकी रक्षाके लिये सम्पुटरूप पादुका दी। अवधिभर वे इन पादुकाओंमें वही स्नेह स्थिर रखेंगे। डब्बेमें रत्न रहता है वैसे ही भरतजीका स्नेह खड़ाऊँमें रहेगा (पां०, पु० रा० कु०)। जैसे डब्बेमें रखनेसे रत्न स्वच्छ और रक्षित रहता है वैसे ही इनका प्रेम खड़ाऊँके मिलनेसे रक्षित रहेगा। (पां०) जैसे रत्न सम्पुटमें गुप्त रहता है सहसा दिखायी नहीं पड़ता, वैसे ही श्रीभरतजीका श्रीरामप्रेम इनमें गुप्त रहेगा। कौसल्याजीने कहा ही है—*'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं।'* अबतक वह स्नेह मनमें गुप्त था, अब चरणपीठमें गुप्त रहेगा। (प० प० प्र०) सम्पुटमें दो भाग होते हैं एक ऊपरका (ढक्कन) दूसरा नीचेका (पेंदा)। दोनों पादुकाओंके तले जोड़नेसे डब्बाका रूप बन जाता है। (रा० प०)

नोट—४ *'आखर जुग जनु जीव जतन के'* इति। जतन=यत्न, उपाय, अभ्यास, यजन, जप। यथा—*'नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥'* (१। २३। ८) जैसे जीवके लिये मोक्षका साधन श्रीरामनामके दो अक्षर 'रा' 'म' हैं वैसे ही श्रीभरतरूपी जीवके ये दोनों चरणपीठ यत्नरूप हैं, 'र', 'म' सदृश हैं। इन्हींसे श्रीभरतजी कृतार्थ हो रहे हैं और होंगे। पं० रामकुमारजीने यत्नका अर्थ रक्षक किया है।

रा० प० कार लिखते हैं कि 'केवल आनन्दके बलसे सब जीव जीते हैं; यही श्रुति कहती है। यदि वह आनन्द न होता तो कौन जी सकता और प्रत्यक्ष भी दिखता है कि दिनभरका थका सुषुप्तिमें आनन्द भोगकर फिर नवीन होकर काम करनेको समर्थ होता है, नहीं तो मर जाय। अतएव 'जीव जतन' का अर्थ 'हर्ष' यह दो अक्षर है। दो खड़ाऊँकी उत्प्रेक्षाकी इसीसे दो स्वरूपोंका वर्णन।' भाव कि दो भाग खड़ाऊँ है वैसे ही दो अक्षर 'हर्ष' में हैं, यही दोनों अक्षर सीताराम-सरीखे जीवके जतन अर्थात् जिलानेवाले हैं। [परंतु अन्य सभी महानुभावोंने 'आखर जुग' से रा, म दो अक्षरोंका ही ग्रहण किया है और भी ऐसा ही उल्लेख है। यथा—*'आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ॥'* (१। २०। ७) *'ब्रह्म जीव सम राम नाम जुग आखर बिस्व बिकासी।'* (वि० २२) जैसे तलके भाग मिलानेसे सम्पुटका आकार बनता है वैसे ही एकको आड़े खड़ा करनेसे और दूसरेको सम रखनेसे 'र' 'म' की आकृति बन जाती है। (वीर)

नोट—५ *'कुल कपाट कर कुसल करम के'* इति। (क) जैसे किवाँड़ेके दो पट घरकी रक्षा चोर आदिसे करते हैं वैसे ही ये दोनों खड़ाऊँ रघुकुल [एवं प्रजाके विविध कुलों (प० प० प्र०)] के रक्षक हैं। अर्थात् ये न मिलते तो भरत न जीवित रहते, उनका शरीर-त्याग सुनकर राम कैसे बचते। इस क्रमसे सीता, लक्ष्मण, माताएँ, परिवार कोई भी कुलमें न बचता। (रा० प०) (ख) *'कर कुसल करम के'*—कुशल कर्म अर्थात् पुण्यकर्म करनेके लिये दोनों हाथ-सरीखे हैं। भाव यह कि इनसे ही भरतके सब कार्य सधे। (रा० प०) कर्म हाथसे होता है, भरतके सब कर्म खड़ाऊँसे होंगे, यथा—*'मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति।'* (३२५) (पं० रा० कु०)

पं० रामकुमारजी 'कुशल' को 'कर' का विशेषण मानते हैं, जैसे आगे विमल 'नयन' का विशेषण

है। 'कर्म' का विशेषण मानें तो कुशलकर्म वे हैं जिनसे रामभक्तिकी प्राप्ति हो, क्योंकि कहा ही है '*सो सुख कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥*' (प० प० प्र०) '*कर कुसल करम के*' का भाव यह है कि इन पादुकाओंद्वारा कर्मोंका संचय होगा। (ग) '*बिमल नयन सेवा सुधरम के*' इति। भाव कि सेवारूपी सुधर्मके निमित्त निर्मल नेत्र हैं। जैसे नेत्र बिना कोई चल नहीं सकता वैसे ही इनके बिना कठिन सेवाधर्म न चल सकता; स्वामी बिना सेवा क्योंकर करते। (रा० प्र०) पुनः भाव कि नेत्रसे देखनेसे सेवा ठीक बनती है वैसे ही श्रीभरतजीके सेवा सुधर्म खड़ाऊँसे बने। इनके द्वारा सेवा और सुधर्म दोनों खूब निबह जायँगे। (पं० रा० कु०, दीनजी)

प० प० प्र०—श्रीरामजीके प्रश्नपर कि '*कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रक्षा स्वप्रान की॥*' श्रीहनुमान्‌जीने प्राणरक्षाके तीन उपाय बताये हैं—'*नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहि केहि बाट॥*' यहाँ प्रजा तथा प्रजाके प्राण श्रीभरतजीकी रक्षाके लिये भी इन्हीं तीनोंका उल्लेख है—जामिक (पाहरू), कपाट, बिमल नयन (लोचन)। इन दोनोंका मिलान करनेसे सुन्दर भाव उत्पन्न होंगे।

श्रीबैजनाथजी—'*कुल कपाट कर कुसल करम के।*''' इति। सूर्यकुलरूप मन्दिर जिसमें सुकर्मरूप धन संचित है उसके कुशलकर रक्षाके हेतु कपाट हैं। श्रीभरतजीमें सत्य, दया आदि सुकर्म तो स्वाभाविक ही हैं; किंतु '*जेठ स्वामि सेवक लघु भाई*' इस कर्मकी कुशलतामें कैकेयीने विघ्न उपस्थित कर दिया। उस विघ्नको रोकनेके लिये ये खड़ाऊँ कपाटरूप हो गये। अर्थात् सिंहासनपर पधराकर उनको स्वामी मान आज्ञा माँग-माँगकर राज-काज करनेसे श्रीभरतजी सेवक ही बने रहे और राज्यपालनसे पिताका वचन भी सत्य बना रह गया। पुनः, श्रीरघुनाथजीके साथ रहनेसे सेवारूप सुन्दर धर्म हो रहा था। वियोग होनेसे नेत्रहीन-से हो रहे थे। पादुकाएँरूपी विमल नेत्र मिल गये। इन्हींके आधारसे समग्र सेवा-व्यापार चलता रहेगा।

नोट—६ '*अस सुख जस सियरामु रहे तें*'। भाव कि दाहिना खड़ाऊँ श्रीरामरूप और बायाँ श्रीसीतारूप है। श्रीदशरथजी स्वर्गको गये और श्रीराम वनको, तब भरत घरमें बिना उनके कैसे रह सकते थे, यह आधार पाकर रहे, मानो खड़ाऊँ नहीं हैं, स्वयं श्रीसीतारामजी घरमें रह रहे हैं। (रा० प्र०) यहाँ 'द्वितीय विशेष' अलंकार है।

नोट—७ वाल्मी० २। ११५ के '**एतद्राज्यं मम भ्राता दत्तं संन्यासमुत्तमम्। योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते॥**' (१४) '**भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः। अब्रवीद् दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम्॥**' (१५) '**छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ। आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥**' (१६) '**सवालव्यजन छत्रं धारयामास स स्वयम्।**''**ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके। तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥**' (२२। २३) इन श्लोकोंसे मिलान कीजिये। तो '*भरत मुदित अवलंब लहे तें।*''' तथा ऊपरके चरणोंका भाव स्पष्ट हो जाता है। क्यों ऐसा सुख हुआ? क्योंकि इनका राज्यासनपर अभिषेक करके इनको राजा समझकर इनपर छत्र और चँवर धारण करके इनकी आज्ञासे सेवककी तरह राज्यका कार्य करेंगे। जो चाहते थे वह हो गया। श्लोक १३—१६ का भाव यह है कि 'मुझे यह राज्य न्यासके समान भाईने दिया और राज्य चलानेके लिये 'पादुका' दी है। ये श्रीरामजीके प्रतिनिधि हैं, आप (प्रजागण) इनपर छत्र करें, इनसे ही राज्यमें धर्म स्थापित होगा।—चौ० ५—८ में ये सब भाव आ गये और इनसे कहीं अधिक भाव इनमें भरे हैं।

पं० रा० कु०—'*अस सुख जस*'''*तें*' कहकर जनाया कि प्रियका पदार्थ प्रियके समान है। पूर्व कहा था कि '*भयउ नाथ सुख साथ गये को*' और यहाँ कहते हैं '*अस सुख जस सिय राम रहे तें,* इस तरह दो बातें कहकर जनाया कि घरमें साथ रहनेसे जो सुख और वनमें साथ जानेसे जो सुख होता है वह दोनों सुख यहाँ प्राप्त हो गये।

नोट—८ भरतजीने कहा था कि *'एहि कुरोग कर औषधु नाहीं।''''मिटइ कुजोगु राम फिरि आए।'* (२१२), इसपर भरद्वाजजीका आशीर्वाद था कि—*'सब दुखु मिटिहि राम पद देखी।'* पुनः, सब अवधवासी भी *'कुरोग बिगोये'* थे और भरत-वचन भी था कि—*'प्रभु प्रसन्न मन''मिटिहि अनट अवरेब।'* (२६९) यहाँ सबकी आशाएँ पूर्ण हुईं। इस प्रसङ्गमें सबके वचन चरितार्थ हुए।

☞श्रीभरतजीको पाँवरी मिलीं। इससे उन्हें वही सुख हुआ जो श्रीसीतारामजीके लौटनेसे होता, यथा—*'भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय राम रहे तें॥'* उन्होंने 'पाँवड़ी' को रामरूप माना। उनका साथ जाना श्रीसीतारामका साथ लौटना माना। आगे स्पष्ट है कि 'पाँवड़ी' भरतजीसे बोलती थीं, जो कार्य वे करते थे वह इनसे आज्ञा लेकर करते थे। इसी प्रकार सच्चिदानन्द श्रीरामजीके वस्त्र-भूषणादि सब चिदानन्दमय हैं, चेतन हैं। देखिये उनकी मुद्रिकाने श्रीजानकीजीके प्रश्नोंका उत्तर दिया है। यथा—*'बोलि बलि मुंदरी सानुज कुसल कोसल पाल।''* (गी० ५। ३), *'सदल सलखन हैं कुसल कृपाल कोसलराउ।''कियो सीय प्रबोध मुदरी'''।'* (गी० ५। ४) ☞मेरी समझमें मूर्ति, अर्चा-विग्रह, चित्रपट, प्रभुके चरणचिह्न, आयुध आदिके चित्र इत्यादिमें प्रभुका भाव दृढ़ करनेको श्रीभरतजी ही आचार्य हुए। साक्षीगोपाल, श्रीजगन्नाथजी, रणछोरजी, पांडुरङ्गजी इत्यादिके बोलने, चलने, खाने-पीने आदिकी कथाएँ भक्तमाल आदिमें प्रसिद्ध ही हैं और आज दिन यह सुख सच्चे उपासकोंको प्राप्त हो रहा ही है (विशेष आगे गौड़जीके टिप्पण देखिये)।

पाँवड़ीसे श्रीभरतजीका 'कुरोग' और 'कुजोग' मिटा, वे सुखी हुए और प्रजाका भी 'कुरोग' मिटा, यथा—*'नतरु लषन सियराम बियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा॥'* महर्षि भरद्वाजके वचन भी पूरे हुए, सब दुःख दूर हुआ। और अवरेब भी सुधरी, यथा—*'राम कृपा अवरेब सुधारी।'*

गौड़जी—यह भगवान्‌की पादुका थी। सबके देखनेमें तो रत्नजटित सुन्दर खड़ाऊँमात्र थी, परंतु वस्तुतः ये भगवान्‌के दिव्य विग्रहके, सायुज्य-मुक्ति-प्राप्त जीवोंके आश्रय, दो पार्षद थे, जिन्हें भगवान्‌ने भरत, माताएँ, गुरु, सचिव, सेवक, सखा, प्रजाजन सबके तोषार्थ भरतजीको दिया। यह प्रतिष्ठित मूर्तिसे अधिक थी। जिस लीलासे *'छन महँ सबहिं मिले भगवाना'* उसी लीलासे श्रीसीताराम अपने दिव्य शरीरसे भरतजीके साथ थे, और उस तथ्यका भौतिक रूप वह पादुका थी। वह नन्दिग्राममें नगरसे बाहर इसीलिये रहे कि भगवान् अपने दिव्य शरीरसे भी व्रतानुसार नगर-वास नहीं कर सकते थे। सबके देखनेमें पादुकासे आज्ञा माँगते थे; परंतु वस्तुतः भगवान् स्वयं भरतको आज्ञा देते थे। *'''मोहि भाई। तुम्हहिं अवधि भरि अति कठिनाई॥'* इसमें यह इशारा था कि हम-तुम बराबर कठिनाईके साथ, तपस्या करके अवधि काटेंगे। मैं तुम्हारे साथ रहूँगा।' मुख और अङ्गोंसे स्वामी और सेवकका रूपक देकर सूचित किया कि मुख अंगोंसे अलग नहीं हो सकता, अतः मैं तुमसे भी अलग नहीं हो सकता। इसी इशारेपर भरतको संतोष हो गया। तुरंत ही 'अवलम्ब' माँगा। दिव्य शरीरके लिये अवलम्बकी आवश्यकता नहीं है, परंतु स्थूल शरीरको स्थूल अवलम्ब चाहिये। प्रभुने इसीलिये पाँवड़ी दी। 'पाँवड़ी' बननेवाले पार्षदोंसे वियोग तो असम्भव है। उनकी सायुज्य मुक्ति है। इसीलिये भगवान्‌का निरन्तर पाँवड़ीके साथ ही रहना निश्चित था। यह वास्तविक 'अवलंब' था।

इस पादुकाके द्वारा प्रजाको अवधितक जीते रहनेका बीमा हो गया। भरतका स्नेह सुरक्षित हो गया। पुरवासी भक्तोंके परमार्थसाधनके लिये राम-नाम-सरीखा उपाय मिल गया कि उसके ही दर्शन करके परमार्थ साधन करें। रघुकुलकी रक्षा हो गयी। राजकाज सुप्रबन्धसे होता रहना निश्चित हो गया। भरतजीके सेवा-धर्मके निर्वाहका साधन मिल गया। भरतको तो इस बातका परम आह्लाद हुआ कि इस 'अवलम्ब' से वही सुख मिलेगा जो श्रीसीतारामजीके साथ रहनेसे मिलता।

तीसरा दरबार समाप्त हुआ

बिदाई तथा श्रीअवध-यात्रा

दो०—माँगेउ बिदा प्रनामु करि राम लिए उर लाइ।
लोग उचाटे अमरपति कुटिल कुअवसरु पाइ॥ ३१६॥
सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधि आस सम* जीवनि जी की॥ १॥
नतरु लषन सिय राम बियोगा। हहरि भरत सबु लोग कुरोगा॥ २॥
रामकृपा अवरेब सुधारी। बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी॥ ३॥

शब्दार्थ—**उचाटे**=चञ्चल कर दिया, उच्चाटन किया। **गुनद**=गुणदायक। **गोहारी**=दुहाई, पुकार, रक्षा या सहायताके लिये चिल्लाना, यथा-'*धाई धारि फिरि कै गोहार हितकारी होत आई मीच मिटत जपत राम नाम के।*'=वह भीड़ जो रक्षाके लिये पुकार सुनकर इकट्ठी हो गयी हो।

अर्थ—श्रीभरतजीने प्रणाम करके विदा माँगी। श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें हृदयसे लगा लिया। कुटिल सुरपति इन्द्रने बुरा अवसर पाकर लोगोंपर उच्चाटन किया॥ ३१६॥ उसकी वह कुचाल सबको हितकर हो गयी। अवधि (१४ वर्षपर पुनः मिलने) की आशाके समान ही वह कुचाल जीवोंको सञ्जीवनी हो गयी॥ १॥ नहीं तो श्रीलक्ष्मण-सीताराम-वियोगरूपी कुरोगसे सभी हाहा करके मर जाते॥ २॥ श्रीरामजीकी कृपाने अवरेब (उलझन, गुत्थी, कठिनता) को सुधार दिया। देवताकी सेना गुणदायक रक्षक बनी॥ ३॥

नोट—१ '*कुटिल कुअवसरु पाइ*'। कुटिल लोग बुरी घात ताकते ही रहते हैं, मौका हाथ लगा कि घात किया। वैसे ही कुटिल इन्द्रने भी मौका पाकर बुरा ताका। सबके मनमें उचाट पैदा कर दिया।

नोट—२ (क) '*सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी*' इति। '*सब कहँ*' से जनाया कि पूर्व उनकी माया सबको न लगी थी, यथा—'*भरत जनक मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देव माया सबहि जथाजोग जन पाइ॥*' (३०२) पर रामकृपासे वह यहाँ सबको समानरूपसे लगी। सबका मन उचाट हो गया, सबकी यही इच्छा हुई कि अब हमारे यहाँ रहनेसे श्रीरामजीको कष्ट होगा, १४ वर्षकी ही तो बात है, चलो। (शीला) (ख) '*भइ नीकी*'—भाव कि इन्द्रने तो कुटिलता की थी, उचाट किया था, सबका बुरा ताका था पर श्रीरामकृपासे वह कुचाल कुछ हानि न करके सबके लिये हितकर हो गयी। क्या हित हुआ यह आगेके चरणोंमें कहते हैं।

नोट—३ '*अवधि आस सम जीवनि जी की*' इति। पं० रा० प्र०, को० रा०, वै० आदिने 'सम' के बदले 'सब' पाठ दिया है और उसके अनुसार अर्थ किया है—(क) (इन्द्रकी कुचाल सुचाल हो गयी, इससे) अवधिकी आशा सबके जीकी जीवन हो गयी। अर्थात् चौदह वर्षके बाद श्रीरामजी फिर मिलेंगे, हमारे राजा होंगे, इस आशासे सब जीने लगे। (वै०, रा० प्र०, पु० रा० कु०) (ख) 'अवधि भर सब जीवोंके जीवनकी आशा हुई' अर्थात् रामविरह कुछ शान्त हुआ। (पं० रा० कु०)

'सम' पाठ आधुनिक टीकाकारोंमेंसे वीर कविजी और गीताप्रेसने दिया है। मानसपीयूष प्रथम संस्करणमें दोनों पाठ दिये गये थे और 'सम' को प्रधानता दी थी। हमारी समझमें 'सम' पाठ ही समीचीन है और राजापुरकी पोथीका यही पाठ है भी। इन्द्रकी कुचाल सबको नीकी हुई यह कहकर अब बताते हैं कि वह कैसे 'नीकी' हुई। इस पाठके अर्थ ये किये जाते हैं—(क) 'अवधि पर्यन्त जीवको जीनेकी आशाके समान हो गयी।' कुचालको जीवनकी आशारूपी भली वस्तु कहना 'लेश अलङ्कार' है। (वीर कवि) (ख) 'सब जीवोंके जीकी आशा समानरूपसे अवधि ही है।' अर्थात् सबके जीको विश्वास हो गया कि १४ वर्षपर पुनः मिलेंगे। इस आशापर सब जीने लगे, यह काम इन्द्रकी कुचालसे बन गया, यदि देवमाया न होती तो वियोगमें अवधिका एक-एक क्षण एक-एक कल्पके समान बीतता और अधीर

* प्राचीन पाठ 'सम' है। 'सब' पाठान्तर है।

होकर सब लोग प्राण दे देते। माताओंके सम्बन्धमें पूर्व कहा है कि *'रहीं रामदरसन अभिलाषीं।'* (१७०। २) जिस भावसे माताओंके जीवनकी रक्षा हुई थी, अब समान रूपसे सबके जीवनकी रक्षा उसी भावसे हो गयी। यह भला कुचालसे हुआ, उसने सबके मनमें उचाट उत्पन्नकर सबके प्राण रख लिये। (प्र० सं०) (ग) अवधिकी आशाके समान ही जीवनके लिये संजीवनी हो गयी। (मानसाङ्क) (ख) अवधिकी आशाके समान जीवोंका जीवन हो गयी।

'जीवनि' पाठ राजापुरका है। आधुनिक पुस्तकोंमें 'जीवन' जहाँ-तहाँ मिलता है। 'जीवनी'=संजीवनी।

नोट—४ *'नतरु लषन सिय रामबियोगा।'''* इति। श्रीसीता-राम-लक्ष्मण तीनों ही वनके कष्ट सह रहे हैं। तीनोंके कष्टको सोचकर जो सबके मनमें दुःख है तथा उनका वियोग-विरह यही कुरोग है। यथा—*'राम लषन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥ अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात। बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥'* (२११) *'एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥ एहि कुरोग कर औषधु नाहीं।'* इन्द्रकी कुचालसे सबको उचाट हो जानेसे सबको १४ वर्ष घरमें पुनर्मिलनकी आशासे रहनेकी इच्छा हो गयी, विरह-दुःख कुछ शान्त हो गया।

नोट—५ *'रामकृपा अवरेब'''* इति। 'धारि' प्रायः उस सेनाको कहते हैं जो लूट-मार करती है। भाव कि देवताओंने तो हानि पहुँचानेके विचारसे उच्चाटन किया था; पर रामकृपासे उनका उच्चाटन करना हानिकारक न होकर लाभदायक हो गया। नहीं तो वे अवधतक भी न पहुँच सकते। रामकृपासे अरिकृत अहित भी हित हो जाता है। जो लूटने आये वे ही रक्षक बन गये। देवताओंने चार प्रकारकी माया रची थी—भय, भ्रम, अरति और उचाट; वही सेना है। (यहाँ केवल उचाट हुआ कि 'अवधि' बीतनेपर पुनः दर्शन होगा। भय भ्रम अरति नहीं। यही ऊपर *'लोग उचाटे अमरपति'* से भी पुष्ट होता है।) (शीला)।

भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम प्रेम रसु कहि न परत सो॥ ४॥
तन मन बचन उमग अनुरागा। धीर धुरंधर धीरजु त्यागा॥ ५॥
बारिज लोचन मोचत बारी। देखि दसा सुर सभा दुखारी॥ ६॥
मुनिगन गुर धुरधीर जनक से। ग्यान अनल मन कसे कनक से॥ ७॥
जे बिरंचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जग जल जाए॥ ८॥
दो०—तेउ बिलोकि रघुबर भरत प्रीति अनूप अपार।
भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार॥ ३१७॥

शब्दार्थ—**निर्लेप**=विषयों आदिसे अलग रहनेवाला। राग-द्वेष आदिसे मुक्त, बेलौस, किसीसे भी कोई सम्बन्ध न रखनेवाला। **उपाए**=उत्पन्न किये, पैदा किये, यथा—*'जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाइ न दूजा।'*

अर्थ—श्रीरामजी भुजा भरकर (दोनों हाथ पूरे फैलाकर) प्रेम-भावपूर्वक भाई भरतसे भेंट रहे हैं। श्रीरामजीका वह प्रेमरस कहते नहीं बनता॥ ४॥ तन-मन-वचनसे अनुराग उमड़ पड़ा, धीरशिरोमणि श्रीरामजीने धैर्य त्याग दिया (अर्थात् अधीर हो रोने लगे)॥ ५॥ वे कमल-समान नेत्रोंसे आँसू गिरा रहे हैं। उनकी यह दशा देखकर देवसमाज दुःखी हुआ॥ ६॥ मुनिसमाज, गुरु वसिष्ठ और श्रीजनकजी-सरीखे श्रेष्ठ धीर, जो अपने मनरूपी सोनेको ज्ञानरूपी अग्निसे कस चुके थे॥ ७॥ जिन्हें ब्रह्माने निर्लिप्त उत्पन्न किया और जो जगत्‌रूपी जलमें कमलपत्रके समान पैदा हुए॥ ८॥ वे भी रघुवर श्रीरामजी और भरतजीके अपार और उपमारहित प्रेमको देखकर वैराग्य और विवेकसहित मन-तन-वचनसे उस प्रेममें डूब गये॥ ३१७॥*

* रणबहादुर सिंहकी टीकाके रचयिता ब्राह्मण पण्डितोंने यहाँसे काण्डके अन्ततक मिलानके श्लोक आनन्द-रामायणके कहकर दिये हैं जो सब गढ़े हुए हैं, आ० रा० में नहीं हैं।

टिप्पणी—१ *'राम प्रेम रसु'* इति। (क) यहाँ रामप्रेमको रस कहा, रसमें स्वाद होता है। भाव कि जो स्वाद उसमें मिल रहा है वह तो खाने-पीनेवाला ही जाने, दूसरा क्या जाने? अतः *'कहि न परत'*। प्रथम भेंट भी ऐसी ही दिखायी थी। उससे मिलान कीजिये तो यहाँके सब चौपाइयोंका भाव स्पष्ट हो जाता है।—*'भरत रामकी मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥'* (२४) *'मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी॥ परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥'* इत्यादि। (ख) *'कहि न परत'*, *'प्रीति अनूप अपार'* और *'भए मगन तन बचन'''* के भाव उद्धृत प्रसङ्गमें दिये गये हैं। पूर्व विस्तृत वर्णन किया है, इसीसे यहाँ केवल इन्हीं शब्दोंसे वही सब भाव सूचित कर दिया है। *'तन मन बचन उमग अनुरागा'* अर्थात् शरीर पुलकित, मन विह्वल और कण्ठ गद्गद हो गया, वचन शुद्ध नहीं निकलता।

गौड़जी—हृदयके अन्तस्तलसे अनुरागका जो उभाड़ हुआ तो उसका समुद्र तन, मन, वचनसे भी उमड़ पड़ा। उसके उत्ताल तरंगोंके सामने धैर्य कहाँ ठहर सकता था। फिर यहाँ तो धैर्यकी मूर्ति भगवान्‌के दो विग्रहोंमें प्रेम उमड़ रहा है। उसकी मर्यादाके लिये उन्होंने स्वयं अपनी इच्छासे धैर्यका त्याग किया।

टिप्पणी—२ *'देखि दसा सुरसभा दुखारी'* इति। पूर्व भेंटमें भी देवता दुःखी हुए थे, यथा—*'मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुरगन सभय धकधकी धरकी॥'* (२४१।७) अतः यह भाव भी होता है कि अब भी कहीं प्रेमातुर होकर भरतके साथ न चल दें। दूसरा कारण दुःखी होनेका यह है कि प्रभुको वियोग-जनित दुःख हमारे कारण हुआ, हमारे लिये वे अपने परम प्रिय भाईको छोड़ रहे हैं।

टिप्पणी—३ *'ज्ञान अनल मन कसे कनक से'* इति। सोना अग्निमें तपानेसे परखा जाता है। तपानेसे उसमें द्युति भी बहुत आ जाती है और वह शुद्ध भी हो जाता है, यथा—*'कसें कनक मनि पारिखि पाये।'* (२८३। ६) *'कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे।'* (२०५। ५) देखिये। वैसे ही इन्होंने अपने मनको ज्ञानद्वारा विशुद्ध और खरा कर लिया है। इनका मन किसीके प्रेम-ममत्वमें नहीं डूब सकता और न हर्ष, शोक, मोहको प्राप्त हो सकता है। कठिन अवसरोंपर इसकी शुद्धता परखी जा चुकी है। शोक-मोह आदि विकार इनमें कदापि नहीं व्याप्त हुए।

टिप्पणी—४ *'जे बिरंचि निर्लेप उपाये।'''* इति। (क) कमल जलमें उत्पन्न होता है पर जलसे निर्लिप्त रहता है। वह जलके ऊपर ही रहता है और यदि जल उसके पत्तों या दलोंपर पड़े तो भी उसमें वह विंध नहीं सकता और न ठहर ही सकता है; वैसे ही ये जगत्‌में पैदा तो हुए पर उससे अनासक्त हैं, उसमें रहते हुए भी उससे अलग हैं, उसके विकार उनमें नहीं आने पाये। (ख) किसी-किसीने 'उपाये' का अर्थ सृष्टि किया है अर्थात् 'जो ब्रह्माकी सृष्टिसे निर्लेप इस जगत्‌में पैदा हुए।'

टिप्पणी—५ *'ते बिलोकि'''प्रीति अनूप अपार।'''* इति। (क) 'अनूप अपार' का भाव कि इस प्रीतिकी उपमा कोई नहीं और यह समुद्रवत् अपार है। कोई इसका पार पाना चाहे तो नहीं पा सकता, थाह लिया चाहे तो उसमें डूब जायेगा, पर थाह न मिलेगी। वैसे ही ये सब डूब गये। (ख) *'सहित बिराग बिचार'* का भाव कि डूबनेवाला नाव, जहाज आदिका अवलम्ब मिलनेसे बच जाता है, और यदि वह नाव या जहाज ही डूब जाय, जिसपर वह चढ़ा है तो वह स्वयं कैसे बच सकता है; वैसे ही ये सब वैराग्य और विवेकरूपी नाव-जहाजपर चढ़े थे, वह वैराग्यविवेक ही इस समय प्रेमसमुद्रमें डूब गया तब वे कैसे बच सकते? वे भी प्रेममें मग्न हो गये। [पं०—*'सहित बिराग बिचार'* का भाव यह कि ये नष्ट न हुए पर प्रभुके प्रेमकी प्रबलता हुई, जैसे जल उछलकर पुलको आच्छादित कर लेता है।] (ग) *'मगन तन मन बचन'* का वही भाव है जो *'बिसरे सबहि अपान।'* (२४०) का है। सब विदेह हो गये। इसीको आगे *'मति भोरी'* कहा है। *'सोक सनेह मगन मुनि ज्ञानी।'* (२७१।८) देखिये।

जहाँ जनक गुर गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी॥१॥
बरनत रघुबर भरत बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू॥२॥

सो सकोच रसु अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी॥ ३॥

शब्दार्थ—**भोरी होना**=भूल जाना, धोखेमें आ जाना, कुण्ठित हो जाना। **प्राकृत**=मायिक, संसारी जीवोंकी, साधारण।

अर्थ—जहाँ श्रीजनकमहाराज और गुरु वसिष्ठजीकी बुद्धिकी गति (वा, गति और मति) भोरी हो गयी वहाँ (उसको) प्राकृत प्रीति कहना बड़ा दोष है (अर्थात् मायिक लोगोंकी प्रीतिसे उसकी उपमा देना बड़ा ही पाप है। अथवा, उस प्रीतिको प्राकृत प्रीति कहना बड़ा दोष है, यह प्राकृत प्रीति नहीं वरन् अप्राकृत है)। रघुबर (श्रीरामजी) और श्रीभरतका वियोग वर्णन करते सुनकर लोग कविको कठोर-हृदय समझेंगे (अर्थात् यदि इस कविका हृदय वज्रवत् कठोर न होता तो यह तो उनके वियोगको देखकर, उनके प्रेम और शोकको देखकर उसमें स्वयं ही डूब जाता, विह्वल हो जाता, वह इसे कह कब सकता)॥ १-२॥ वह 'सकोचरस' अकथ्य है, उस समयके प्रेमको स्मरणकर सुन्दर वाणी सकुचा गयी॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी'* अर्थात् इसे प्राकृत प्रीति नहीं कह सकते। प्रथम-भेंटसे मिलान कीजिये—*'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को॥ सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥'* (२४१।५-६) जहाँ ब्रह्मादिककी मनकी भी गति नहीं, वह प्राकृत प्रीति कैसे हो सकती है?

टिप्पणी—२ *'सो सकोच रस अकथ सुबानी''सकुचानी'* इति। अर्थात् लोग कहेंगे कि कवि कैसा कठोर था कि उसने ऐसा वियोग वर्णन किया। इसी (कठोर समझा जाने) का भय है। पुनः, यह रस भी अकथ्य है और उस समय और स्नेहका स्मरण भी संकोच उत्पन्न कर देता है—इन सब कारणोंसे सुवाणी सकुचा गयी। इन कारणोंको समझकर वर्णन नहीं किया जाता, नहीं तो कहनेका कुछ साहस किया जाता।

गौड़जी—गोस्वामीजीने इस प्रकरणमें प्रेमको रस कहा है—*'रामप्रेम रस कहि न परत सो।'* अर्थात् जैसे शृङ्गार आदि रस हैं वैसे ही प्रेम भी रस है। यहाँ प्रेम 'भक्ति' के अर्थमें आया है। भक्तिरस अन्योन्याश्रित है। भक्त भगवान्‌को भजता है। भगवान् भक्तको भजते हैं। 'तांस्तथैव भजाम्यहम्'। *'मन ऐसा निर्मल हुआ जैसे गंगा नीर। पीछे पीछे हरि फिरैं कहत कबीर कबीर॥'*, *'ऐसे राम बचन के हारे। नित उठि बलिके ठाढ़े द्वारे॥'* यहाँ तो देखनेमें दो देह हैं, वास्तवमें भक्त और भगवान् एक ही हैं, एक जान दो कालिब, यह भक्तिका वह रूप है जो भक्तोंके लिये आदर्श है। यहाँ शृङ्गार, सख्य, दास्य, वात्सल्य और शान्त, पाँचों भक्ति रसोंकी तन्मयता है, इसीलिये सारा उपस्थित समाज इस प्रेमरसके सागरमें निमग्न हो जाता है।

भेंटि भरतु रघुबर समुझाए। पुनि रिपुदवनु हरषि हिय लाए॥ ४॥
सेवक सचिव भरत रुख पाई। निज निज काज लगे सब जाई॥ ५॥
सुनि दारुन दुखु दुहूँ समाजा। लगे चलन के साजन साजा॥ ६॥
प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम रजाई॥ ७॥
मुनि तापस बनदेव निहोरी। सब सनमानि बहोरि बहोरी॥ ८॥

दो०—लषनहिं भेंटि प्रनामु करि सिर धरि सियपद धूरि।
चले सप्रेम असीस सुनि सकल सुमंगल मूरि॥ ३१८॥

अर्थ—श्रीभरतजीसे भेंट करके श्रीरघुनाथजीने उनको समझाया (धीरज दिया)। फिर शत्रुघ्नजीको हर्ष-पूर्वक हृदयसे लगा लिया॥ ४॥ सेवक और मन्त्री भरतका रुख पाकर सब अपने-अपने काममें जा लगे॥ ५॥ यह सुनकर दोनों समाजोंको कठिन दुःख हुआ। वे चलनेका सामान सजने लगे॥ ६॥ प्रभुके चरणकमलोंको प्रणाम करके दोनों भाई श्रीरामजीकी आज्ञाको सिर धरकर चले॥ ७॥ मुनियों, तपस्वियों और

वनदेवताओं सबका बारंबार सम्मान करके सबसे विनती की॥ ८॥ लक्ष्मणजीको भेंट-प्रणाम करके श्रीसीताजीकी चरणरजको सिरपर चढ़ाकर और उनका सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलोंका मूल आशीर्वाद सुनकर वे प्रेमसहित चले॥ ३१८॥

नोट—१ *'भेंटि भरत रघुबर समुझाए'* इति (क) समुझाया कि तुम हमारे पास हो और मैं सदा तुम्हारे पास हूँ, इसमें सन्देह नहीं, मन लगा रहे तो पास ही समझना चाहिये। श्रीरामजीका मन सदा भरतमें रहता ही है, यथा—*'रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती॥'* (शीला) अथवा, फिरसे नीति आदि कहे। (रा० प्र०) (ख)—*'समुझाए'* शब्दको देकर पूज्य कविने वाल्मीकिके मतकी भी रक्षा की है। खड़ाऊँ मिलनेपर भरतजीने फिर श्रीरघुनाथजीसे यह कहा था कि अवधिभर मैं जटाजूट और वल्कल वस्त्र धारण करूँगा और फल-मूल खाकर नगरसे बाहर रहकर आपके आगमनकी प्रतीक्षा करूँगा। यदि अवधि समाप्त होनेपर प्रथम ही दिन आपका दर्शन न हुआ तो मैं अग्निमें प्रवेश करूँगा—(सर्ग ११२ श्लो० २३—२६)। यह सुनकर श्रीरामजीने ऐसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की—**'तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम्'**। इसके अनुसार समझाना यह है कि घबराओ मत, हम अवश्य समाप्तिपर प्रथम ही दिन मिलेंगे। दूसरे, इस व्यापक शब्दको देकर सभीके मतोंका निर्वाह कर दिया है। त्रिपाठीजी समझाना इस प्रकार लिखते हैं—*'मैं पितु बचन प्रमान करि करि पूरन सुरकाज। जबलगि आवत तात तुम पालहु राज समाज॥ अघटित घटना जो घटी सो सुरमाया जानि। सोच करहु जनि ईशवश जीव सदा जिय जानि॥ निज स्वारथ हित सब सहत दुख सुख योग वियोग। जग मंगल हित सहहिं दुख, तात धन्य ते लोग॥'*

नोट—२ *'लखनहिं भेंटि प्रनाम करि सिर धरि…'* इति। ऐसा जान पड़ता है कि प्रथम **'भेंटि'** शब्द दिया है, इसीसे उसके अनुकूल *'लषनहिं'* (अर्थात् लक्ष्मणसे भेंटकर) शब्द दिया। प्रणाम बड़ेको किया जाता है अतः *'प्रनाम'* शब्द देकर लक्ष्मणजीका भरतजीको प्रणाम करना भी जना दिया।

पं० रामकुमारजीने बहुत उत्तम अन्वय यहाँ किया है जिससे कोई अड़चन 'प्रणाम' में नहीं रहती। *'लषनहिं भेंटि'* अर्थात् लक्ष्मणको भेंटकर और *'प्रनाम करि सिर धरि सियपद धूरि'* अर्थात् श्रीसीताजीके चरणोंमें सिर धरकर प्रणाम करके और उनके पदकी धूलि सिरपर धरकर चले। एक खर्रेमें *'लखनहि भेंटि प्रनाम करि'* ऐसा भी पद लेकर अर्थ करते हुए उन्होंने यह समाधान किया है कि—श्रीवैष्णव (श्रीरामानन्दीय और श्रीरामानुजीय सम्प्रदायवाले) भरतजीसे लक्ष्मणजीको अधिक मानते हैं, तर्पणादिमें लक्ष्मणजीका नाम पहले लेते हैं और भी बहुत कार्यों और प्रसंगोंमें ऐसा ही करते हैं। वाल्मीकिजी लंकासे लौटनेपर भरतजीका उनको प्रणाम करना लिखते हैं और मानसमें भी भरतजी लक्ष्मणजीको परमभाग्यशाली कहते ही हैं—*'अहह धन्य लछिमन बड़भागी'* इन्हीं विचारोंसे यहाँ लक्ष्मणको भेंटकर उनको प्रणाम करना भी लिखा गया। पुनः, 'प्रणाम करि' दोनों ओर लगता है। लक्ष्मणजीको भी और सीताजीको भी प्रणाम किया। छोटे-बड़ेका विचार यदि करें तो *'प्रनाम करि'* 'सियपद' के ही साथ ले सकते हैं।

पंजाबीजी लिखते हैं कि भरतजीके साथ शत्रुघ्नजी भी हैं। यहाँ अर्थमें उनका भी अध्याहार कर लेना चाहिये। भरतजी मिले और शत्रुघ्नजीने प्रणाम किया।

'सुमंगल मूरि' धूरि और असीस दोनोंके साथ है—(पु० रा० कु०)।

सानुज राम नृपहि सिर नाई। कीन्हि बहुत बिधि बिनय बड़ाई॥ १॥
देव दया बस बड़ दुखु पायेउ। सहित समाज काननहि आयेउ॥ २॥
पुर पगु धारिअ देइ असीसा। कीन्ह धीर धरि गवनु महीसा॥ ३॥
मुनि महिदेव साधु सनमाने। बिदा किए हरि हर सम जाने॥ ४॥
सासु समीप गये दोउ भाई। फिरे बंदि पग आसिष पाई॥ ५॥
कौसिक बामदेव जाबाली। पुरजन परिजन सचिव सुचाली॥ ६॥

जथा जोगु करि बिनय प्रनामा। बिदा किये सब सानुज रामा॥ ७॥
नारि पुरुष लघु मध्य बड़ेरे। सब सनमानि कृपानिधि फेरे॥ ८॥

अर्थ—भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामजीने राजाको माथा नवाकर बहुत प्रकारसे उनकी विनती और बड़ाई की॥ १॥ हे देव! दयावश आपने बड़ा दुःख पाया, समाजसहित आप वनमें आये॥ २॥ अब आशीर्वाद देकर नगरको पधारिये। महीपति श्रीजनकजीने धैर्य धारण करके प्रस्थान किया॥ ३॥ तदनंतर प्रभुने मुनियों, ब्राह्मणों और साधुओंको, हरिहरके समान जानकर (आदर-दान-मानसे) सम्मान किया और उनको बिदा किया॥ ४॥ फिर दोनों भाई सास (श्रीसुनयनाजी) के पास गये और चरणोंको प्रणाम करके उनसे आशीर्वाद पाकर लौटे॥ ५॥ विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि, शुभ आचरणवाले पुरवासी, परिजन और मन्त्री, सबसे भाईसहित श्रीरामजीने यथायोग्य विनती और प्रणाम करके सबको विदा किया॥ ६-७॥ छोटे, मध्यम और बड़े सभी (श्रेणीके) स्त्री-पुरुषोंका सम्मान करके कृपासागर श्रीरामजीने उनको लौटाया॥ ८॥

नोट—*'सानुज राम नृपहि सिर नाई। कीन्हि बहुत…'* इति। (क) *'सानुज'* में राजाके भाईको भी प्रणाम करना ले सकते हैं। श्रीजनकजी यहाँ वात्सल्यभावसे अनर्थ सुनकर आये थे, इसीसे उस भावके अनुकूल श्रीरामजीने प्रणाम, विनय और प्रशंसा की। बालकाण्डमें श्रीजनकजीने ऐश्वर्यभावसे श्रीरामजीकी बिदा होते समय स्तुति की है; इसीसे वहाँ श्रीजनकजीका *'जोरि पंकरुह पाहि सुहाए'* बोलना कहा है। वहाँ स्तुति सुनकर *'पूरनकामु राम परितोषे'* और *'करि बर बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने॥'* (१।३४२।७) वहाँकी बिनती उनके भावको लिये हुए माधुर्यमें की गयी। यहाँकी विनय उनके वात्सल्यभावके अनुकूल हुई। विनयका किञ्चित स्वरूप आगे कहते हैं—*'देव दया बस…'*। (ख) *'देव'* सम्बोधनका भाव कि आपका ज्ञान दिव्य है, आप वनगमनादिका कारण जानते हैं, यह सब चरित आपको मालूम है, तथापि आप जो यहाँ आये वह हमपर, अवधवासियोंपर, रघुकुलपर दया होनेसे। राजधानी छोड़कर वनमें आये और कष्ट सहे, इत्यादि। (ग) *'पुर पगु धारिअ'*—यहाँसे श्रीजनक महाराज प्रथम श्रीअवधको जायँगे। अतः 'पुर' से श्रीअयोध्यापुरी और श्रीमिथिलापुरी दोनोंका ग्रहण हो सकता है। (घ) *'धीर धरि'* से जनाया कि माधुर्यमें श्रीरामजीकी विनती सुनकर तथा वियोग समझ प्रेमविह्वल हो गये थे। अथवा, श्रीरघुवर-भरत-प्रेम-मिलन देखकर *'भए मगन मन तन बचन सहित बिराग बिचार।'* (३१७), अतः धीरज धरना कहा। भाव कि मनको समझाया कि भगवत्-लीला ही ऐसी है, साथ जा नहीं सकते, प्रभुके धर्ममें बाधा होगी, इत्यादि।

नोट—२ *'मुनि महिदेव साधु सनमाने।…'* इति। (क) यहाँ भेंट, प्रणाम तथा बिदाईका क्रम दिखाया है। प्रथम श्रीभरत-शत्रुघ्नजीसे मिलकर उनको बिदा किया तब उन्होंने सेवकों तथा मन्त्रियोंको चलनेकी तैयारीका संकेत किया। फिर श्रीजनक महाराजको बिदा किया। अब 'मुनियों, ब्राह्मणों और साधुओं' की बिदाई कहते हैं। (ख) मुनि यहाँ विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि और गुरु वसिष्ठजी नहीं हैं; क्योंकि इनको आगे नाम लेकर कहा है। यथा—*'कौसिक बामदेव जाबाली…'*, *'गुर गुरतिय पद बंदि प्रभु सीता लषन समेत॥'* (३२०) इनके अतिरिक्त जो और मुनि और साधु थे उनका सम्मान यहाँ अभिप्रेत है। जो श्रीअवध-मिथिलासे आये थे या दोनों राजसमाजोंके साथ थे। चित्रकूटका दरबार सुनकर और भी जो आये हों वे भी इनमें आ जाते हैं, क्योंकि उनका भी बिदा करना आवश्यक है। बैजनाथजीका मत है कि यहाँ *'मुनि'* से चित्रकूटके अत्रि आदि मुनि और साधुसे शान्त रसवाले अभिप्रेत हैं। (ग) *'हरि हर सम जाने'*—हरि रघुकुलके इष्टदेव हैं—*'निजकुल इष्टदेव भगवाना।'* (१।२०१।२) हर (श्रीशंकरजी) की पूजा इस कुलमें होती है, यथा—*'इन्ह सम कोउ न सिव अवराधे'*, अतः दोनोंका पूज्य देवताओंके समान सम्मान किया। पंजाबीजीका मत है कि वैष्णवोंको हरि-सम और शैवोंको हर-समान जाना।

गौड़जी—यहाँ *'सुचाली'* विशेषण पुरजन, हरिजन आदि सबके लिये है। इसका तात्पर्य यह नहीं

है कि जो सच्चरित्र थे उन्हींको विदा किया। भाव यह कि ऋषियोंका तो क्या कहना है, सचिवादि सारी प्रजा सच्चरित्रा है। तभी तो भगवत्सान्निध्य प्राप्त है। तभी तो भरतके साथ आये।

दो०—भरत मातुपद बंदि प्रभु सुचि सनेह मिलि भेंटि।
बिदा कीन्ह सजि पालकी सकुच सोच सब मेंटि॥ ३१९॥

परिजन मातु पितहि मिलि सीता। फिरी प्रानप्रिय प्रेम पुनीता॥ १॥
करि प्रनामु भेंटी सब सासू। प्रीति कहत कबि हिय न हुलासू॥ २॥
सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सीय दुहुँ प्रीति समाई॥ ३॥

अर्थ—श्रीभरतजीकी माता कैकेयीजीको प्रभुने पवित्र स्नेहसे प्रणाम और मिल-भेंटकर और उनका सोच और संकोच सब मिटाकर पालकी सजाकर उनको बिदा किया॥ ३१९॥ परिजन, माता और पितासे मिलकर अपने प्राणप्रिय पतिके* प्रेममें पवित्र सीताजी लौट आयीं॥ १॥ (फिर) प्रणाम करके सब सासुओंसे गले लगकर मिलीं। उनकी प्रीतिके कहनेके लिये कविके हृदयमें हुलास नहीं है॥ २॥ उनकी (पातिव्रत्य-धर्म) शिक्षा सुनकर और मनमाँगा आशीर्वाद पाकर श्रीसीताजी दोनों प्रीतिमें समायी रहीं, अर्थात् देरतक निमग्न रहीं॥ ३॥

पु० रा० कु०—'*भरत मातुपद बंदि प्रभु''' सकुच सोच सब मेंटि*', यथा—'*प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेई॥ पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥*' (२४४। ७-८) '*सकुच*' अपनी करनीका, यथा—'*अवनि जमहि जाचत कैकेई।*' (२५२। ६), '*गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषनु देई॥*' (२७३। १) सोच रामविरहका एवं संकोचके कारण जो सोच था कि हमने बुरा किया, हमसे न बन पड़ा, हम कैसे संसारको मुँह दिखावेंगी। 'शुचि स्नेह'=पवित्र निःछल प्रेमसे, दिखावेका नहीं।

नोट—१ '*सकुच सोच सब मेंटि*' में यह भी भाव आ जाता है कि कैकेयीको जो ग्लानि हो रही होगी कि जिसके लिये हमने सब किया वह स्वयं ही हमारे प्रतिकूल हो गया, उस हमारे आत्मजने ही हमारा त्याग किया और बुरा-भला कह डाला, आगे न जाने क्या हो—उसको यह कहकर मिटाया कि हमने भरतको समझा दिया है, वह सब माताओंके साथ एक-सा व्यवहार रखेंगे और शत्रुघ्नजी भी तुम्हारी रक्षा करेंगे। वाल्मीकिमें भरत-शत्रुघ्नको इनके लिये समझाना लिखा है। यथा—'**न चापि जननीं बाल्यात्त्वं विगर्हितुमर्हसि।**' (२। १०१। १७) (अर्थात् लड़कपनके कारण माता कैकेयीकी निन्दा मत करो), '**कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्। न तन्मनसि कर्त्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्।**' (२। ११२। १९) (कामना वा लोभवश तुम्हारी माँने जो निश्चित किया था उससे मनमें दुःख न मानो। उनके साथ माताका-सा व्यवहार करो), '**मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥ मया च सीतया चैवं शप्तोऽसि रघुनन्दन**'''॥' (२७-२८) (अर्थात् शत्रुघ्न! तुम माता कैकेयीकी रक्षा करना, उनपर क्रोध न करो।)

पुनः, '*सकुच सोच सब मेंटि*' में अ० रा० के उस प्रसंगका भी समावेश हो जाता है, जिसमें बिदाईके समय श्रीकैकेयीजीने श्रीरामजीसे पश्चात्ताप करते हुए कहा है—मायासे मोहित होकर मुझ कुबुद्धिने आपके राज्याभिषेकमें विघ्न डाल दिया, उस मेरी कुटिलताको आप क्षमा करें—'**कृतं मया दुष्टधिया मायामोहितचेतसा। क्षमस्व मम दौरात्म्यं क्षमासारा हि साधवः।**' (२। ९। ५६) मुझ पापिनीने अपनी दुष्टबुद्धिसे यह पाप कर्म किया—'**पापिष्ठं पापमनसा कर्माचरमरिन्दम।**' (६०) 'मैं आपकी शरण हूँ।' इसपर श्रीरामजीने समझाया है कि मेरी प्रेरणासे ही देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये तुम्हारे मुखसे ये शब्द निकले थे। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है—'**मयैव प्रेरिता वाणी तव वक्त्राद्विनिर्गता।**' (६३) '**देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमत्र दोषः कुतस्तव।**'

* पं०—प्राणोंसे प्यारा पवित्र पतिका प्रेम है, उसको मुख्य रखकर उनके स्नेहका विचार न किया, लौट आयी।

इसी तरह समझाना यह भी हो सकता है कि देवगण तथा वनवासी तुम्हारे बड़े कृतज्ञ हैं, मुझपर भी यह तुम्हारा बड़ा उपकार हुआ, मेरे मनोरथकी पूर्तिके लिये तुमने इतना बड़ा कलङ्क अपने सिर लिया। स्मरण करो, मैंने तुमसे पूर्व ही यह वर माँगा था कि मेरे निमित्त तुम लोक-अपयश अंगीकार करो। इसीसे तो तुम मुझे माता कौसल्यासे भी अधिक प्रिय हो। तुम्हें पश्चात्ताप न करना चाहिये।

नोट—२ '*दुहुँ प्रीति*'—माताओं और सासुओं, दोनों ओरकी प्रीतिमें। रामकी प्रीति और उधर सासुओंकी प्रीतिमें समा गयीं। (पु० रा० कु०) माता और सासुके परिवारोंमें सीताका प्रेम समा रहा। (पं०)

रघुपति पटु पालकीं मँगाईं। करि प्रबोधु सब मातु चढ़ाईं॥ ४॥
बार बार हिलिमिलि दुहुँ भाई। सम सनेह जननी पहुँचाई॥ ५॥
साजि बाजि गज बाहन नाना। भरत भूप दल कीन्ह पयाना॥ ६॥
हृदयँ रामु सिय लषन समेता। चले जाहिं सब लोग अचेता॥ ७॥
बसह बाजि गज पसु हियँ हारें। चले जाहिं परबस मन मारें॥ ८॥

शब्दार्थ—पटु=सुन्दर, मनोहर, यथा—'*पौढ़ाये पटु पालने सिसु निरखि मगन मन मोद*'। हिलिमिलि=भेंट करके (यह मुहावरा है)।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने सुन्दर (एवं ओहारदार) पालकियाँ मँगायीं और सब माताओंको खूब समझाकर संतोष देकर चढ़ाया॥ ४॥ दोनों भाइयोंने बारम्बार माताओंसे समान प्रेमसे मिल-मिलकर उनको पहुँचाया॥ ५॥ घोड़े, हाथी और अनेक सवारियाँ सजाकर श्रीभरतजी और राजा जनकके दल (समाज, सेना) ने प्रस्थान किया॥ ६॥ सब लोग अचेत (बेसुध) चले जा रहे हैं। उनका हृदय श्रीसीतालक्ष्मणसहित रामजीके पास है॥ ७॥ बैल-घोड़े, हाथी (आदि) पशु हृदयसे हारे (बड़े लाचार और दुःखी) परवश मनमारे (उदास) चले जा रहे हैं॥ ८॥

नोट—'*करि प्रबोधु*'—यह कि आपको दुःखी देखकर श्रीभरतजीको बहुत दुःख होगा, सारा परिवार और सारी प्रजा दुःखी होगी, अतः आपको धीरज धरना चाहिये। भरतजी सबकी हमसे अधिक सेवा करेंगे और हम अवधि बीतनेपर तुरत आयेंगे, कुछ बहुत दिन थोड़े ही हैं।

मिलान कीजिये—'*जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँद अंबु अनुग्रह तोरें॥ बरस चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान। आइ पाइ पुनि देखिहउँ मनु जनि करसि मलान॥*' (५३) '*बन मग मंगल कुसल हमारे। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारे॥ तुम्हरे अनुग्रह तात कानन जात सब सुखु पाइहौं।*' (१५१) इत्यादि। '*करि प्रबोध*' से सूचित होता है कि वियोगके कारण माताएँ प्रेमकातर हो गयी थीं, उनका गला भर आया था, वे कुछ बोल न सकीं, यह देखकर प्रभुने उनको बहुत समझाया। यथा—'*लखि सनेह कातरि महतारी। बचन न आव बिकल भइ भारी॥ राम प्रबोध कीन्ह बिधि नाना।*' (६९। १-२), '**तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः।**' (वाल्मी० २। ११२। ३१) माताओंके मनमें बड़ा दुःख है कि आयीं तो थीं श्रीरामको लौटाने सो न हुआ तो यहींसे साथ चला जाना था। यह भी न हुआ और न प्राण निकले, वनसे फिर वनको पहुँचाकर लौट रही हैं। यथा—'*हाथ मीजिबो हाथ रह्यो। लगी न संग चित्रकूटहु ते ह्याँ कहा जात बह्यो॥*'''''*मेरोइ हिय कठोर करिबे कहुँ बिधि कहुँ कुलिस लह्यो।*' '*तुलसी बन पहुँचाइ फिरि सुत क्यों कछु परत कह्यो।*' (गीता० २। ८४) अतः समझाना पड़ा। श्रीत्रिपाठीजी समझाना इस प्रकार कहते हैं—'*अवधि मात्र धीरज धरिय अम्ब समुझि विधि वाम। जेहि पावैं परितोष नृप अधिक बसत सुरधाम॥ तुम्हरे दुखु कीन्हे अधिक पीर भरतहिय होय। रहे सुखी जेहि बिधि भरत सब मिलि कीजै सोय॥ त्यागि मोह ममता सकल शिर धरि ईश रजाय। भजिय ताहि संसार भ्रम जाते जाय नसाय॥*'

'*भरत भूप दल''हृदय राम सिय''*' इति। अ० रा० में मिलता-जुलता श्लोक यह है—'**भरतस्तु सहामात्यैर्मातृभिर्गुरुणा सह।**' (२। ९। ६९) '**अयोध्यामगमच्छीघ्रं राममेवानुचिन्तयन्।**'

'बसह बाजि गज पसु हियँ हारे।' इति। जैसी तैयारी आते समय थी, वैसी लौटनेके समय नहीं है, व्यवस्थामें भी ढिलाई है, आगे-आगे बैल चले जाते हैं, घोड़े उनके पीछे, हाथी उनके भी पीछे हैं, उन्हें भी लौटनेकी रुचि नहीं, दूसरेके वशमें हैं, जिधर वे ले जाते हैं, उधर चलना ही पड़ता है। ऐसा कहकर गोस्वामीजी दिखलाते हैं कि इसीसे मनुष्योंकी उदासीका अन्दाजा किया जा सकता है। (वि० त्रि०)

दो०—गुर गुरतिय पद बंदि प्रभु सीता लषन समेत।
फिरे हरष बिसमय सहित आए परननिकेत॥ ३२०॥
बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड़ बिरह बिषादू॥ १॥
कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी॥ २॥

अर्थ—गुरुदेव श्रीवसिष्ठजी और गुरुपत्नी श्रीअरून्धतीजीके श्रीचरणोंमें प्रणाम करके श्रीसीतालक्ष्मणसहित प्रभु हर्ष-शोकसहित फिरे और पर्णकुटीपर आये॥ ३२०॥ तदनन्तर निषादको सम्मान करके विदा किया। वह भी चला परन्तु उसके हृदयमें बहुत बड़ा विरह-विषाद था॥ १॥ कोल, किरात, भिल्ल आदि वनवासी लौटानेसे बारंबार प्रणाम कर-करके लौटे॥ २॥

नोट—१ *'फिरे हरष बिसमय सहित'* इति। हर्ष कि पिता-वचन, हमारा पुत्र-पिता-धर्म, हमारी प्रतिज्ञा, वनवास, देवकार्य आदि सबका निर्वाह हुआ और साथ ही *'दिनकर कुल रीति सुहाई'* को भी धक्का न पहुँचा, सब बने रहे। विस्मय वियोगजनित है। हर्ष-विस्मय माधुर्यमें है—*'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।'* (१२७। ८)

प० प० प्र०—इसी काण्डमें कह आये हैं कि श्रीरामजी हर्ष-विषादरहित हैं। यथा—*'बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु रघुबीर प्रभाऊ॥'* (१२। ३), *'बिसमय हरष न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर।'* (१६५), इत्यादि। पर यहाँ *'हरष बिसमय सहित'* होना कहते हैं। और अन्यत्र भी कहा है—*'हरषि चले मुनिभय हरन।'* (१। २०८), *'उठे हरषि सुरकाज सँवारन।'* (३। २७। ६) इत्यादि। ☞ इस सम्बन्धमें तीन बातें स्मरण रखने योग्य हैं—(१) भगवान् राम जहाँ किसी भक्तका अनन्य प्रेम देखते हैं अथवा जहाँ किसी भक्तपर परम अनुग्रह करना चाहते हैं वहाँ ही उनका हर्षित (प्रसन्न) होना पाया जाता है। (२) जब सुरकार्य अथवा अवतारका कोई महत्त्व-कार्य करनेको निकलते हैं तब भी उनका हर्षित होना पाया जाता है। पर ऐसे स्थलीमें 'हर्ष' का अर्थ आनन्द न लेकर 'उत्साह' ही लेना समुचित जान पड़ता है। कारण कि जब किसीको कार्यारम्भमें हर्ष होता है तो उसकी सफलतामें और भी विशेष प्रसन्नता होती है। पर श्रीरामजीके इन प्रसंगोंमें कार्य-सफलता होनेपर हर्ष होनेका एक भी प्रमाण नहीं मिलता। (३) श्रीरामजीको किसी व्यक्ति, कुटुम्ब या अपने शरीरके सुख-दुःखादिके लिये हर्ष या विषाद नहीं होता। वे भक्तके दुःखमें दुःखी होते हैं और भक्तके सुखमें सुखी होते हैं। मिलान कीजिये—*'जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥'* (१। ७६। २), *'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसमहु चाहि। चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कछु काहि॥'* (७। १९) (*'उठे हरषि सुर काज सँवारन।'* (३। २७। ६) में पूर्व ही विस्तृत लेख आ चुका है। पाठक वहाँ देखें।)—ये ऐश्वर्यभावसे हर्षादिके कारण हैं। यहाँ भायप-भक्तियुक्त श्रीभरतजीको लौटानेमें विषाद हुआ।

नोट—२ *'फेरे-फिरे।'* बैजनाथजीका मत है कि ये कोल-भील अपने राजा निषादराजको पहुँचाने साथ-साथ गये थे तब उन्होंने इन्हें लौटाया। लौटानेसे लौटे। पु० रा० कु० जी आदिका मत है कि जो अवध-मिथिला-समाजकी सेवाके लिये आ जुटे थे उन सबको रघुनाथजीने बिदा किया, वे जाना न चाहते थे, लौटानेपर लौटे। *'फेरे'* से जनाया कि जबरदस्ती लौटाये गये, प्रेमके मारे जाते न थे। जोहारि-जोहारी भी यही जनाता है कि गये, फिर लौटकर प्रणाम किया, फिर गये, फिर लौटे। वा, बहुत हैं इससे दो बार कहा।

प्रभु सिय लषन बैठि बट छाहीं। प्रिय परिजन बियोग बिलखाहीं॥ ३॥
भरत सनेह सुभाउ सुबानी। प्रिया अनुज सन कहत बखानी॥ ४॥
प्रीति प्रतीति बचन मन करनी। श्रीमुख राम प्रेम बस बरनी॥ ५॥
तेहि अवसर खग मृग जल मीना। चित्रकूट चर अचर मलीना॥ ६॥
बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घर घर की॥ ७॥
प्रभु प्रनामु करि दीन्ह भरोसो। चले मुदित मन डर न खरो सो॥ ८॥

शब्दार्थ—**श्रीमुख**=अपने मुखसे।

अर्थ—प्रभु श्रीरामजी, श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी बरगदकी छायामें बैठकर प्रिय परिजनोंके वियोगमें विलख (व्याकुल हो) रहे हैं॥ ३॥ श्रीभरतजीके प्रेम, स्वभाव और सुन्दर वाणीको प्रिया श्रीसीताजी और लक्ष्मणजीसे सुन्दर वाणीसे बखानकर कह रहे हैं॥ ४॥ उनकी मन, वचन, कर्मकी प्रीति और प्रतीति श्रीरामचन्द्रजीने प्रेमवश श्रीमुखसे वर्णन की॥ ५॥ उस समय पक्षी-पशु और जलके भीतर होते हुए भी मीनतक चित्रकूटके समस्त जड़-चेतन सभी जीव मलिन (उदास और दुःखी) हो गये॥ ६॥ रघुनाथजीकी दशा देखकर देवताओंने फूल बरसाकर घर-घरकी (अर्थात् अपने-अपने घरकी) दशा कही॥ ७॥ प्रभुने प्रणाम करके उनको आश्वासन दिया (कि तुम्हारा डर खरासा नहीं है, अर्थात् ठीक-सा नहीं है, भ्रम है)* तब वे मनमें प्रसन्न होकर चले। मनमें जरा-सा भी भय न रह गया॥ ८॥

नोट—१ ***'प्रिय परिजन बियोग बिलखाहीं'*** इति। हर्ष-शोकसहित लौटे थे पर औरोंको भी बिदा करना था इससे सावधान रहे। अब जब स्वस्थ हुए (सबको बिदा करके छुट्टी पायी) तब वियोगने व्याकुल कर दिया, रोने लगे। (पु० रा० कु०) वाल्मीकिजी भी लिखते हैं कि श्रीरामजी माताओंको प्रणामकर रोते-रोते अपनी कुटीमें आये।—**'स चैव मातॄरभिवाद्य सर्वा रुदन्कुटीं स्वां प्रविवेश रामः।'** (२। ११२। ३१)

नोट—२ ***'प्रेम बस बरनी'*** का भाव कि छोटे भाईकी प्रशंसा—उसके गुणोंका वर्णन उचित न था, पर प्रेमके वश होनेसे लौकिक नियम टूट गया और वे वर्णन करने लगे।

गौड़जी—***'जल मीना'*** में भाव यह है कि मछली तो जलके वियोगसे तड़पती है, परंतु यहाँ जलके भीतर होते हुए भी वह उदास है, क्योंकि इस समय वियोगकी उदासी सर्वात्मा ब्रह्ममें हो रही है। जैसे संयोगभक्तिमें चराचर लीन होते हैं वैसे ही विरहाशक्तिमें भी चराचर तन्मय हो जाता है। समुद्रमें जब ज्वार आता है तो बड़ी दूरतक किनारोंको भी दबा देता है।

नोट—३ ***'बरषि सुमन कहि गति घर घर की।'*** भाव कि अपना दुःखड़ा सुनाकर श्रीरामजीका वियोग, दुःख छुड़ाना चाहते हैं। (पु० रा० कु०) हम लोगोंके दुःखको देखिये कि घरमें रहनेको भी नहीं मिलता, मारे-मारे फिरते हैं, हमारे कष्टको कृपा करके अब दूर कीजिये। अथवा, दुःख सुनाया कि हम आर्त्त हैं। आप सोचते होंगे कि हमने आपके सम्बन्धियोंके साथ कुटिलता की, उच्चाटनादि प्रयोग किये; पर हम क्या करें, हमको महा कष्ट है। आर्त्त होनेसे हमने यह किया। इसे क्षमा करें और अब विलम्ब न कीजिये, हमारा कष्ट निवारण कीजिये। (पं०, रा० प्र०) ***'घर घरकी'*** से यह भी जान पड़ता है कि प्रत्येक देवताने अपने घरका कष्ट कहा।

नोट—४ ***'प्रभु प्रनामु करि दीन्ह भरोसो।''''*** इति। श्रीनंगे परमहंसजी इसका अन्वय इस प्रकार करते हैं—***'प्रभु दीन्ह भरोसो तब देवता मुदित मन प्रनाम करि डर न खरो सो चले।'*** उनका मत है कि देवता श्रीरामजीको अपना मालिक जानकर आये हैं। तब प्रणाम तो फरियाद करनेवाला करेगा न कि मालिक।

* कोष्ठकान्तर्गत अर्थ भी हमने प्र० सं० में दिया। वह अर्थ हमें अब ठीक नहीं जँचता पर जिन टीकाकारोंने मा० पी० की नकल की है, उन्होंने इसे भी दिया है। अतः हमने उसे ज्यों-का-त्यों रहने दिया है।

दो०—सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥ ३२१॥

शब्दार्थ—**परन कुटीर**=पर्णशाला, पत्तोंकी झोपड़ी या कुटिया।

अर्थ—श्रीसीता-लक्ष्मणसहित प्रभु पर्णकुटीमें इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, मानो भक्ति, वैराग्य और ज्ञान शरीर धारण किये सोह रहे हैं॥ ३२१॥

नोट—'*सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।*…' इति। इसमें कविने तीन व्यक्तियोंकी तीन उपमाएँ दी हैं। इसमें श्रीरघुनाथजीका ज्ञानमूर्ति और लक्ष्मणजीका वैराग्यरूप होना स्वयं सिद्ध है। श्रीसीताजीकी भक्ति-उपमा विचारनेके लिये साहित्यज्ञानकी शरण लेनी पड़ती है। शृङ्गाररसका स्थायी भाव रति और आलम्बन-विभाव नायिका है। सबसे उत्तम नायिका स्वकीया होती है। इस स्वकीयामें प्रेम ही पतिके अनुरागका कारण है। साहित्यमें पतिव्रताका नाम नहीं आता। कोई-कोई स्वकीयाहीको पतिव्रता मानते हैं। स्वकीयाका भाव रति है, पतिव्रताका भक्ति है, इसीसे पतिव्रताशिरोमणिपर भक्तिकी उपमा घटती है।

गौड़जी—श्रीमद्भागवतमें ज्ञान-वैराग्यको भक्तिका पुत्र बताया है। यथा—'**अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ। ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥**' (भा० माहात्म्य अ० १। ४५) अर्थात् उस युवतीने नारदसे कहा कि मेरा नाम भक्ति है। ये दोनों ज्ञान और वैराग्य-नामसे प्रसिद्ध मेरे पुत्र हैं। वह वास्तविक है। यहाँ उपमामात्र है। उपमामें सभी धर्म लेना आवश्यक नहीं है।

शिला—एक ज्ञान भक्तिका पति और एक पुत्र है। जो ज्ञान भक्तिसे प्रथम उत्पन्न हो वह पुरुष और जो भक्तिके पीछे हो (अर्थात् प्रथम भक्ति हो तब ज्ञान उत्पन्न हो) वह ज्ञान पुत्र है। शुकदेव और उद्धवको ज्ञान प्रथम हुआ, भक्ति नारद और गोपियोंके उपदेशसे पीछे हुई और ध्रुव एवं प्रह्लादको भक्ति प्रथम हुई—इस प्रकार दोहेके दृष्टान्त निर्विरोध होते हैं।

प० प० प्र०—श्रवण-कीर्तनादि साधनभक्तिसे ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति अरण्यकाण्ड 'रामगीता' में कही है। भागवतमें उसी साधनभक्तिको ज्ञान-वैराग्यकी माता कहा है। पर यहाँ तो कृपा-साध्य प्रेमाभक्तिका ही वर्णन है। यह ज्ञान वैराग्यके पश्चात् ही प्राप्त होता है। यथा—'***सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥***' (१। ३७। १४), '***बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर लाई॥***' (७। १२२। ११)

मुनि महिसुर गुर भरत भुआलू। राम बिरह सबु साजु बिहालू॥ १॥
प्रभु गुनग्राम गनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं॥ २॥
जमुना उतरि पार सबु भयऊ। सो बासरु बिनु भोजन गयऊ॥ ३॥
उतरि देवसरि दूसर बासू। रामसखाँ सब कीन्ह सुपासू॥ ४॥
सई उतरि गोमती नहाये। चौथें दिवस अवधपुर आये॥ ५॥

अर्थ—मुनि, ब्राह्मण, गुरु वसिष्ठजी, भरत और राजा तथा सभी साजसमाज रामविरहमें विह्वल है॥ १॥ श्रीरामजीके गुणसमूहको मनमें विचारते मनन करते हुए सभी मार्गमें चुपचाप चले जा रहे हैं*॥ २॥ प्रथम दिन यमुना उतरकर सब पार हुए। वह दिन बिना भोजनके बीता॥ ३॥ दूसरा वास गङ्गा उतरकर (गङ्गापार शृङ्गवेरपुरमें) हुआ। रामसखा निषादराजने सब सुपास (सुखका सामान) किया॥ ४॥ तदनन्तर सई पार करके गोमतीमें स्नान किया और चौथे दिन अवधपुर पहुँचे॥ ५॥

नोट—'***जमुना उतरि पार सबु भयऊ***…' इति। 'अवधसे चित्रकूटको जाते समय दो दिनपर यमुनासे चित्रकूट

* दीनजी—'रामविरहमें अस्तव्यस्तसाजसे रामगुणगान करते हुए…'।

पहुँचे थे और लौटतीमें पहले दिन ही चित्रकूटसे यमुनातक पहुँच गये, यह क्यों?' यह शङ्का उठाकर उसका उत्तर पंजाबीजी यह लिखते हैं कि पूर्व वियोगसे खिन्न थे और प्रभुके मिलनेमें सन्देह था। अथवा, पहले अपना ही बल था, अब उच्चाटनद्वारा देवमायाका भी बल पा गये, बल द्विगुण हो गया, इससे जितना पूर्व दो दिनमें चलते थे। उतना अब एक ही दिनमें चलते हैं।—(नोट—इससे यह भी सूचित करते हैं कि भरतजी अब सवारीपर हैं, रथपर हैं। यथा—'**ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा। आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा॥**' (वाल्मी० ११३। १) अर्थात् सिरपर खड़ाऊँ रखकर श्रीभरतजी प्रसन्न होकर शत्रुघ्नजीके साथ रथपर बैठे। सब लोग सवारीपर हैं इससे शीघ्रतासे पहुँचे। पूर्व श्रीभरतजी और श्रीरामजीके सङ्गी, सखा आदि सब पैदल थे, यथा—'***तेहि पाछें दोउ बंधु पयादें। भूषन बसन बेष सुठि सादें॥ सेवक सुहृद सचिव सुत साथा। सुमिरत लखन सीय रघुनाथा॥***' (२२१। ६-७) इससे दो दिन लगे थे।

'श्रीरामवनगवन महत्तीर्थ' मार्ग

श्रीयुत राय साहेब धर्मविनोद पं० परमेश्वरदत्त मिश्रजीके तीर्थमालाकी ४० वीं मणि 'रामवनगवन महत्तीर्थ' सम्बन्धी अप्रकाशित लेखसे तीर्थयात्राका मार्ग सम्पादक ने लिया है। इसके लिये सम्पादक उनका हृदयसे कृतज्ञ है। लाला सीतारामके अयोध्याकाण्डकी प्रतिमें जो वनयात्रा दी है वह बिलकुल अशुद्ध है। इसीसे यहाँ स्थानोंके लिये सम्पादकने गोस्वामीजीके मानसके प्रमाण भी दिये हैं। राजापुरकी पोथीकी हूबहू यह प्रतिलिपि है, हमें इसमें भी संदेह है।

ईश्वरके पवित्र स्थलोंका ही दूसरा नाम तीर्थ है और यद्यपि ऐसे तीर्थ भारतवर्षमें अनेक हैं और सभीका राजा भी तीर्थराज प्रयाग है तथापि तीर्थाङ्गोंमें श्रीअयोध्याजी मस्तक कहा गया है, क्योंकि उसी श्रीअयोध्याके रघुकुल (आर्यवंश) में साक्षात् ब्रह्म अनादि श्रीभगवान् रामचन्द्रजीने अवतीर्ण होकर पिताकी आज्ञा मान अपने छोटे भ्राता लक्ष्मण और धर्मपत्नी श्रीसीताजीके सहित चौदह वर्षपर्यन्त वनवास किया था और मनुष्योंकी भाँति अनेक चरित्र किये थे। समुद्र पारकर लंकाके प्रबल प्रतापी राजा रावणको भी मार पृथ्वीका भार उतारा था और फिर सकुशल अयोध्याजी लौटे थे। अतः उन्हीं वनों, वनवासके मार्ग और स्थानोंके नामोंकी एकत्रित संज्ञा 'श्रीरामवनगवन महत्तीर्थ' है।

श्रीकनकभवन खास महल श्रीसीतारामजीका है। यहाँसे कोपभवन जहाँ दशरथजी महाराज थे वहाँ सुमन्तजीके साथ रामजी गये। वनवासकी आज्ञा विमातासे सुनकर श्रीकौसल्याभवनको मातासे आज्ञा लेने गये। वहीं सीताजीका साथ हुआ और कौसल्याभवनसे निकलते ही श्रीलक्ष्मणजीका साथ हुआ। तीनों मूर्ति कोपभवन गये और कैकेयीके दिये हुए वल्कल वस्त्र आदि धारणकर पिता-माताको प्रणामकर वहाँसे वसिष्ठजीके आश्रमपर आये (जहाँ अब वसिष्ठकुण्ड है)।

१ यहाँसे रानोपालीकी सड़कसे होते हुए दर्शननगर—(रथीवाँ ग्राम यहाँसे दाहिने छूट जाता है)* पहुँचकर वहाँसे दक्षिणवाली सीधी कच्ची सड़क सात कोस चलनेपर तमसातीर प्रथम महत्तीर्थ मिलता है। चकिया ग्रामके निकट इसका पत्थर गड़ा है। यह स्थान नन्दिग्रामवाले भरतकुण्डके कोसान्तर ही है।—यह प्रथम निवास-स्थान है—'***बालक बृद्ध बिहाइ गृह लगे लोग सब साथ। तमसा तीर निवास किय प्रथम दिवस रघुनाथ॥***' (८४)

२ यहाँसे सुलतानपुर-प्रतापगढ़की सड़कपर चलते हुए गोमती और सई नदियोंको पारकर गङ्गातटपर शृंगवेरपुर (सिंगौर) है, जहाँ दूसरा निवास हुआ—यह दूसरा महत्तीर्थ है।—'***रामलखन सिय जान चढ़ि संभु चरन सिर नाइ। सचिव चलायेउ तुरत रथ इत उत खोज दुराइ॥***' (८५), '***सीता सचिव सहित दोउ भाई। शृंगबेरपुर पहुँचे जाई॥ उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेषी॥***' (८६। १)

* रथीवाँ ग्राम नाम पड़ा; क्योंकि रथका खोज छिपानेके लिये यहाँ बहुत-सी लीकें बनी थीं और पता न चलता था कि रथ किधर गया। यहींसे पुरवासी हताश होकर लौटे थे।

तमसातटसे भरतकुण्ड रेलवे स्टेशनसे सवार होकर प्रतापगढ़ २६ कोस पड़ेगा। वहाँसे जेठवारा थानाकी सड़क पकड़े हुए २० कोश जानेपर शृङ्गवेरपुर मिलता है अर्थात् तमसाके ४६ कोसपर है। सिंगौर घाट तहसील सोराँव जिला इलाहाबादमें है। यहाँ घाट है जहाँ सन्ध्या की गयी थी।

३ शृंगवेरपुरसे गङ्गापार होकर प्रयागके रास्तेमें एक वृक्षके नीचे तीसरा निवास हुआ—*'तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ। सखा अनुज सिय सहित बन गवनु कीन्ह रघुनाथ॥'* (१०४) *'तेहि दिन भयउ बिटपतर बासू। लषन सखा सब कीन्ह सुपासू॥ प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराज दीख प्रभु जाई॥'*

कोरई घाटसे तीन कोस दक्षिणपर चेरवा ग्राम है। यहाँ श्रीरामजूठा नामका एक तालाब है, जिसे कोइरी मुहधोईताल भी कहते हैं। यहाँ एक श्रीरामजीका मन्दिर भी है। यह तीसरा महत्तीर्थ है।

४ यहाँसे यद्यपि राजापुर होकर चित्रकूटका रास्ता नजदीक है, पर भगवान्‌को श्रीभरद्वाजजीको दर्शन देने प्रयाग जाना था, इससे वे इस रास्ते न गये हों। रामजूठातालसे प्रयाग १० कोस है।—*'तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए। करत दंडवत मुनि उर लाए॥'* (१०५) यहाँपर रामघाट है। त्रिवेणी-स्नान है। भरद्वाज-आश्रम है।

५ भरद्वाज-आश्रमके पीछेवाली सड़कसे नैर्ऋत्यकोण दिशासे चौक होकर पश्चिमद्वारसे प्रयागसे बाहर कई रास्ते मिलते हैं। एक तो वहींसे यमुना उतरकर मानिकपुरवाली सड़कसे, दूसरा इसी पारसे राजापुरवाली सड़कसे, तीसरा पगडंडियोंद्वारा। पर इन रास्तोंसे रामजी नहीं गये। शहरसे बाहर सीधे राजरूपपुर जाइये। वहाँसे टेढ़ी-मेढ़ी रास्ता पश्चिम-दक्षिणवालीसे सराय आकिल होते हुए श्रीयमुनाजीका महिलाघाट पारकर तहसील मऊ (जिला बाँदा) में उस पारवाली डिस्ट्रिक्टबोर्डकी सड़क लीजिये, जिसपर मऊ, रामनगर, रायपुरा, वाल्मीकि-आश्रम और कर्वी सबडिविजन प्रसिद्ध स्थल हैं। मऊमें ठहरना हो तो बाबा छीतूदासका धर्मशाला वहाँ है। मऊसे रामनगर आइये। इस ग्रामके बाहर सड़कपर परम पवित्र ताल 'कुवँर दो' (कुमार द्वै) है। अर्थात् जहाँ दोनों राजकुमारोंने प्रयागसे चलकर विश्राम किया था—यह ताल प्रायः १५ बीघाकी परिधिमें लम्बा-चौड़ा है। उत्तरका घाट मोटे पत्थर और पट्टियोंसे बँधा है। पश्चिमकोणपर एक जीर्ण शिवालय है। इसमें कमल और मछलियाँ बहुत हैं। प्रयागसे यह स्थान लगभग २० कोस होगा।—*'जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंब कीन्ह बटछाहीं॥'* (११४)

६ 'कुवँर दो' तालसे 'वाल्मीकि-आश्रम छः कोस है। इसके बीचमें घड़ीभर ठहरना हुआ। वहाँसे वाल्मीकिजीके स्थानपर आये। वाल्मीकिजीके यहाँ कुछ देर लगी। वहाँ उनसे स्थान पूछकर, चित्रकूटको चल दिये और चित्रकूटमें ही छठी रातको विश्राम हुआ।—*'तब रघुबीर श्रमित सिय जानी। देखि निकट बट सीतल पानी॥ तहँ बसि कंद मूल फल खाई। प्रात नहाइ चले रघुराई॥ देखत बन सर सैल सुहाए। बालमीकि आश्रम प्रभु आए॥'* (१२४। ३—५) *'"चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। आइ नहाने सरितबर सिय समेत दोउ भाइ॥'* (१३२)

यहाँ कामदगिरि, कोटितीर्थ, देवांगना, स्फटिकशिला, भरतकूप आदि तीर्थ हैं। अनसूया-आश्रम यहाँसे कोई छः कोस होगा और भरतकूप तीन कोस।

चित्रकूटसे आगेकी यात्रा रेलपर ही रायसाहबने की। नकशेमें स्थान और उनके पासके स्टेशन दिखा दिये हैं। इनसे यात्रा करनेवाले प्रेमियोंको बहुत सुविधा होगी। नकशा खींचनेमें श्रीहरगौरीप्रसादजीके हम कृतज्ञ हैं।*

जनकु रहे पुर बासर चारी। राजकाज सब साज सँभारी॥ ६॥
सौंपि सचिव गुर भरतहि राजू। तेरहुति चले साजि सब साजू॥ ७॥

* नोट—जिस पुस्तकसे दूसरा संस्करण तैयार किया गया है, उसमें वह नकशा नहीं है। इससे वह यहाँ नहीं दिया जा सका।

नगर नारि नर गुर सिख मानी। बसे सुखेन रामरजधानी॥ ८॥

दो०—रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपबास।

तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि की आस॥ ३२२॥

अर्थ—श्रीजनकजी नगरमें चार दिन रहे। राज्यका सब कार्य और सब साजसामान सँभालकर॥ ६॥ मन्त्री, गुरुजी और श्रीभरतजीको राज्य सौंपकर अपना सब साजसामान ठीक करके तिरहुतको चल दिये॥ ७॥ नगरके स्त्री-पुरुष गुरुजीकी शिक्षा मानकर श्रीरामजीकी राजधानीमें सुखपूर्वक रहने लगे॥ ८॥ श्रीरामदर्शनके लिये सब लोग नियम और उपवास वा उपवासका नियम कर रहे हैं, वे भूषण और भोग सुखको त्याग-त्यागकर अवधिकी आशासे जी रहे हैं॥ ३२२॥

नोट—'*जनकु रहे पुर बासर*''' इति। श्रीरघुनाथजीने जो कहा था कि '*तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरहि नृपहि घर बन की॥ माथे पर गुर मुनि मिथिलेसू।*''''।' (३१५। १-२) राजा जनकके यहाँ चार दिन रहकर राजकार्य सँभालनेसे उनके सम्बन्धके वचन चरितार्थ हुए।

नोट—२ '*सौंपि सचिव गुर भरतहि राजू।*''' इति। राजाने यह रीति बाँधी कि आज्ञा भरत दें, व्यवहार मन्त्री करें और उचित-अनुचितका निवारण गुरुजी करें। (पं०) (ख) '*नगर नारि नर गुर सिख मानी।*''' इति। यहाँ श्रीरामजीके उपर्युक्त गुरुसम्बन्धके वाक्य '*सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥*' (३०६। १) '*देसु कोसु परिजन परिवारू। गुर पद रजहिं लाग छरु भारू॥*' (३१५। ७) ये सब वचन चरितार्थ हुए। गुरुजीने ही नगरके निवासियोंको समझाकर बसाया कि देखो अब यह राज्य और राजधानी श्रीरामजीकी है, श्रीरामजीने अपने प्रतिनिधि रूपसे अपनी पादुकाएँ दी हैं और वचन दिया है कि पिताकी आज्ञाका पालन करके चौदह वर्षके व्यतीत होनेपर दूसरे ही दिन यहाँ आ जायँगे और राज्यकाज स्वयं करेंगे। अवधिभर श्रीभरतजी थातीरूपसे इसकी रक्षा करेंगे। अतएव तुम सब लोग सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामजीके वचनका विश्वासकर सुखपूर्वक यहाँ रहो।

नोट—३ '*रामदरस लगि*''' इति। (क) श्रीगुरुजीके इतना समझानेपर पुरवासी सुखपूर्वक बसे तो, पर श्रीरामदर्शनकी प्रतीक्षामें वे नियम और उपवास करते रहे कि जबतक वे वनवासमें कष्ट सह रहे हैं तबतक हम सब भी भूषण-भोगको ग्रहण न करेंगे, नियमपूर्वक रहेंगे, इत्यादि। इससे पुरवासियोंका श्रीरामपर अतिशय प्रेम दिखाया और गुरुके '*तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्हते ही।*' (२९१। ३) इन वचनोंको चरितार्थ किया। (ख) '*करत नेम उपबास।*''' 'अर्थात् किसीने जलका ही नियम किया, किसीने अन्नका त्याग किया, किसीने विशेष पूजा-पाठ-जपादिका नियम किया। किसीने फल और किसीने दूधका ही नियम किया। प्रायः सभी एक ही बार भोजन करते थे।

सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाइ सिख ओधे॥ १॥

पुनि सिख दीन्हि बोलि लघु भाई। सौंपी सकल मातु सेवकाई॥ २॥

भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बर* बिनय निहोरे॥ ३॥

ऊँच नीच कारजु भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू॥ ४॥

परिजन पुरजन प्रजा बोलाए। समाधानु करि सुबस बसाए॥ ५॥

शब्दार्थ—'ओधना' (सं० आबन्धन)=काममें लगना, आबद्ध होना।†

* 'बय' पाठ राजापुर और काशीका है। अर्थ रा० प्र० ने यह किया है—'अवस्थासम (के अनुसार) विनय और निहोरा किया'। भा० दा० ने 'बर' पाठ दिया है।

† रा० प०—'ओधे'=उधियाय लगे अर्थात् आज्ञारूप वायुसे प्रेरित हो सब अपने-अपने काममें उड़ि लगे। (रा० प्र०) २—'ओधे' शब्दसे हर्षरहित होना सूचित किया।—(पु० रा० कु०)

अर्थ—श्रीभरतजीने मन्त्रियों और सुसेवकोंको समझाया। वे सब शिक्षा पाकर अपने-अपने काममें लगे॥ १॥ फिर छोटे भाईको बुलाकर उपदेश किया और सब माताओंकी सेवा उनको सौंपी॥ २॥ ब्राह्मणोंको बुलाकर भरतजीने हाथ जोड़कर प्रणाम करके सुन्दर विनयसे प्रार्थना की (कि)॥ ३॥ ऊँचा-नीचा, भला-बुरा जो भी काम हो उसके लिये आज्ञा दीजियेगा, संकोच न कीजियेगा,॥ ४॥ उसके बाद परिजन, पुरजन और प्रजाको बुलाया और सबका सन्तोष करके सुखपूर्वक स्वतन्त्ररूपसे बसाया॥ ५॥

वि० त्रि०—*'सचिव''ओधे'* इति। समझाया कि *'जब लगि प्रभु आवत नहीं, तब लगि सब अधिकार। जो जाको जैसो रह्यौ सो सब करै सँभार॥ सम्पति रघुपतिकी सकल, राजपाट धनधाम। योगक्षेम बाढ़ै सदा, समुझि सँभारो काम। दुखी प्रजा रघुपति बिरह, करहु तासु अनुहार॥ करहि सकल सतिभावसे। वेदविहित आचार॥ होय न पावै पाप कहुँ करिय नित्य यह सोध। रहै प्रजा सुख शान्तिसे बढ़े न कतहुँ बिरोध। सेवक धर्म सँभारिये सजग होय सब कोय। परमधर्म सबको यथा स्वामीका हित होय॥'*

नोट—१ *'ऊँच नीच कारजु भल पोचू''*' इति। ऊँचा-नीचा, बुरा-भला, यह मुहावरा है। जिसका भाव यह है कि जो कुछ भी काम हो, कैसा भी काम हो उसके कहनेमें संकोच न कीजियेगा, मैं आपका सब कार्य करूँगा। (पु० रा० कु०) [नीचकार्य जैसे नीचोंको दण्ड देना। (पं०)]

नोट—२ *'समाधान करि सुबस बसाए'*। वाल्मीकिजी (सर्ग ११५। १५-१६ में) लिखते हैं कि 'दुःखसंतप्त भरतजी पादुकारूपी थातीको माथेपर रखकर प्रजाओंसे बोले कि ये चरणपादुकाएँ हमारे गुरु रामचन्द्रजीके प्रतिनिधि हैं, इन्हींसे राज्यमें धर्म स्थित रहेगा। श्रीरामजीसे भी उन्होंने यही कहा था कि ये ही सबका योगक्षेम करेंगे। **'एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः।'** (२। ११२। २१) भरतजी यही विश्वास सब प्रजाको दिला रहे हैं और यह भी कि जो कार्य होगा वह सब अवधिभर इन्हींसे निकलेगा। कोई कष्ट किसीको न होगा, ये सब प्रकार रक्षा करेंगे और मैं आज्ञानुसार सेवा करता रहूँगा। १४ वर्षपर प्रभु अवश्य लौटेंगे इसमें संदेह नहीं, वे सबको वचन दे चुके हैं कि वनसे लौटनेपर वे राजा होंगे।—**'अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः। भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः॥'** (सर्ग १११। ३१)

अ० रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—**'पौरजानपदान्सर्वानयोध्यायामुदारधीः। स्थापयित्वा यथान्यायं नन्दिग्रामं ययौ स्वयम्॥'** (२। ९। ७०-७१)

सानुज गे गुर गेहँ बहोरी। करि दंडवत कहत कर जोरी॥ ६॥
आयसु होइ त रहउँ सनेमा। बोले मुनि तन पुलकि सपेमा॥ ७॥
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥ ८॥

दो०—सुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिन साधि।
सिंघासनु प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि॥ ३२३॥

शब्दार्थ—*'गनक'*=ज्योतिषी, यथा—*'गनी जनक के गनकन्ह जोई।'* निरुपाधि=निरुपद्रव-भावसे, निश्छल-भावसे, प्रकटरूपसे, धूमधामसे, सारी प्रजाको शरीक करके।

अर्थ—फिर श्रीभरतजी छोटे भाईसहित गुरुजीके घर गये और दण्डवत् प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले॥ ६॥ आज्ञा हो तो नियमपूर्वक रहूँ। श्रीवसिष्ठ मुनि शरीरसे पुलकित होकर प्रेमपूर्वक बोले॥ ७॥ हे भरत, तुम जो कुछ भी समझोगे, कहोगे या करोगे वही संसारमें धर्मका सार होगा॥ ८॥ श्रीभरतजीने यह सुनकर और शिक्षा तथा बड़ा आशीर्वाद पाकर ज्योतिषियोंको बुलाकर दिन (मुहूर्त) शोधवाकर उन्होंने प्रभुकी चरणपादुकाओंको सिंहासनपर धूमधामसे पधराया॥ ३२३॥

नोट—१ *'आयसु होइ''*' इति। मिलान कीजिये—**'नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः। तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना॥ २॥ रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः॥ ३॥ सुभृशं श्लाघनीयं**

च यदुक्तं भरत त्वया॥ ५॥ ''''मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान्॥ ६॥ (वाल्मी० ११५) अर्थात् गुरुजीसे भरतजीने कहा कि आज्ञा दीजिये मैं नन्दिग्रामको जाता हूँ। वे बोले कि भरत तुम्हारा वचन प्रशंसनीय है। तुम उत्तम मार्गपर जा रहे हो। कौन तुम्हारा अनुमोदन न करेगा? गुरुकी आज्ञा पाकर माताओंकी आज्ञा लेकर सिरपर खड़ाऊँ रखकर नन्दिग्रामको गये। नन्दिग्राम क्यों गये यह भी वहीं बताया है कि वहाँ श्रीरामजीके न रहनेके समस्त दुःखोंका मैं अनुभव करूँगा। राजा स्वर्गगामी हुए और मेरे गुरु वनवास कर रहे हैं। मैं वहीं रहकर उनकी प्रतीक्षा करूँगा, क्योंकि वे यशस्वी श्रीरामचन्द्रजी ही राजा हैं। मानसमें जो उन्होंने कहा है—*'सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरम कठोरा॥'*—उसको चरितार्थ करेंगे।

नोट—२ *'धर्म सार जग होइहि सोई'*, यथा—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥**' इति। (गीता ३। २१) श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं संसार उसको प्रमाण मानकर उसके पीछे चलता है। तुम्हारे उत्तम आचरणोंको देख संसार उसको प्रमाण मानेगा।

नोट—३ *'सुनि सिख पाइ असीस''''* इति। (क) यहाँ शिक्षा और आशीर्वाद दोनों कहते हैं। अतः वसिष्ठजीके *'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरमसार जग होइहि सोई॥'* इसमें शिक्षा भी है, आशीर्वाद भी है। वर्तमानके लिये शिक्षा है कि जो बात तुम समझ रहे हो कि राज्य पिता मुझे दे गये हैं, उसे विधिके अर्पण कर दूँ और जो कह रहे हो कि 'नियमके साथ रहूँ', जबतक सरकार भोगको स्वीकार नहीं करते तबतक मैं भी उससे दूर रहूँ और जो तुम करनेवाले हो, सरकारकी पादुकाको सिंहासनारूढ़ करना चाहते हो, यह सब धर्मसार है, यह तो हुई शिक्षा, और भविष्यके लिये यही बड़ा भारी आशीर्वाद है कि जो कुछ तुम समझोगे, कहोगे, करोगे वही संसारके लिये धर्मसार होगा। तुम्हारी अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही धर्ममें प्रमाण होगी। यथा—'**सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः-करणप्रवृत्तयः**'। (वि० त्रि०) (ख) *'गनक बोलि'* इति। पंजाबीजीका मत है कि मुहूर्तका विचार मर्यादा रखने और ज्योतिषियोंके सम्मानार्थ किया गया, नहीं तो उसकी आवश्यकता न थी। (ग) *'सिंघासन''''बैठारे'* इति। ज्येष्ठ शु० १० गुरुवारको सिंहासनपर पधराया। इससे प्रजाको भी सन्तोष हुआ होगा, क्योंकि इसका भाव ही यह है कि आजहीसे श्रीराम ही राजा हैं। (घ) *'बैठारे'* इति। फिर भरतजीने पादुकाके सिंहासनारूढ़ करनेके विधानमें वसिष्ठजीको सम्मिलित नहीं किया, यह सोचकर कि स्वयं सरकारको सिंहासनारूढ़ वसिष्ठजी करेंगे। (वि० त्रि०)

नोट—४ *'निरुपाधि'* इति। (क) रा० प्र० 'निरुपाधि' को 'पादुका' का विशेषण मानता है। प्रायः अन्य टीकाकारोंने इसे 'बैठारे' के साथ रखा है। (ख) निरुपाधिसे जनाया कि श्रीरामजीके अभिषेकमें उपाधि हुई पर पादुकाओंके अभिषेकमें कोई उपाधि नहीं है (पं० रा० कु०)। (ग) उपाधि धर्म चिन्ताको कहते हैं। यथा—'**उपाधिनां धर्मचिन्ता' इत्यमरः**। भाव यह कि पादुकाओंको सिंहासनपर बिठाकर भरतजी स्वधर्म-हानिकी चिन्तासे रहित हुए, सेवक-धर्ममें बाधा होनेकी चिन्ता मिट गयी।

गौड़जी—*'बैठारे निरुपाधि'* इति। प्रभुसे पायी हुई पादुका भरतजीने नन्दिग्राममें सिंहासनपर पधरायी और आठों पहर उसकी पूजा-सेवामें रहते थे। श्रीरामजीकी और पादुका जो महलमें थी उसे धूमधामसे प्रजाका खटका मिटानेके लिये शुभ मुहूर्त्तपर राज्य-सिंहासनपर बिठाकर सादर उसका छत्र-चवँर थामा। दी हुई पादुका नगरमें नहीं ले गये। उसका नगरमें जाना और प्रभुका जाना एक बात थी।

भरत-रहनि-प्रकरण

राममातु गुरपद सिरु नाई। प्रभुपदपीठ रजायसु पाई॥ १॥
नंदिगाँव करि परनकुटीरा। कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा॥ २॥

जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥ ३॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सपेमा॥ ४॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥ ५॥

शब्दार्थ—**नन्दिगाँव**—श्रीअयोध्याजीसे पाँच कोसपर एक गाँव है, आज भी यह बड़ा रमणीक लगता है। **खनि**=खोदकर। तिन तूरी=तिनका तोड़े हुए-से, यथा—'*देह गेह सब सन तृन तोरे।*' (७०। ६) देखिये।

अर्थ—श्रीरामजीकी माता और श्रीगुरुजीके चरणोंमें माथा नवाकर और प्रभुके खड़ाऊँकी आज्ञा पाकर नन्दिग्राममें पर्णकुटी बनाकर धर्मकी धुरी धारण करनेमें धीर भरतजीने निवास किया॥ १-२॥ सिरपर जटाओंका जूड़ा और शरीरमें मुनिवस्त्र धारण किया, पृथ्वीको खोदकर उसमें कुशकी साथरी सजाई॥ ३॥ भोजन, वस्त्र, बरतन, व्रत आदिका नियम करते हैं। ऋषियोंके कठिन धर्मोंका प्रेमपूर्वक आचरण करते हैं॥ ४॥ भूषण, वस्त्र, भोग और सुख-समूहको मन, तन, वचनसे तिनका-सरीखा तोड़कर (उन्होंने) त्याग दिया॥ ५॥

नोट—१ '*प्रभुपदपीठ रजायसु पाई*' से भी जनाया कि श्रीरामजीके सब पदार्थ भी सच्चिदानन्दरूप हैं। प्रसङ्गभरमें गोस्वामीजीने यह बात दिखायी है। आदिमें यहाँ '*प्रभुपदपीठ रजायसु पाई*' कहा और अन्तमें '*माँगि माँगि आयसु करत*·····' कहा। गीतावलीमें 'मुद्रिका' से श्रीसीताजीका बात करना लिखा है। विशेष ३१६ (८) में देखिये।

नोट—२ '*नंदिगाँव करि परनकुटीरा*·····।' नन्दिग्राम नगरके बाहर है। उसे वनके तुल्य समझकर वहाँ रहे। श्रीरामजी घरमें नहीं, महलमें नहीं, अतः वे भी घर और महल छोड़ एकान्तमें रहे। श्रीराम नगरसे दक्षिणको गये, यह भी दक्षिण ओर गये जिसमें श्रीरामजी आवें तो अगवानी वहींसे करें। श्रीराम पर्णशालामें रहते हैं, अतः इन्होंने भी पर्णकुटी बनायी। यह सब रामोपासकोंके कठिन धर्म हैं; इनका पालन किया; '*धर्म धुर धीर*' कहा। काष्ठजिह्वा स्वामी कहते हैं कि 'नन्दी' धर्मका स्वरूप है, धर्म चतुष्पाद है, धर्मकी ध्वजामें वृषका स्वरूप रहता है, इसीसे 'नन्दिग्राम' पसन्द किया। नन्दिग्राममें निवास करनेका कारण मुख्य यह जान पड़ता है कि वे साथ नहीं गये तो जहाँ रामजी प्रथम रात्रि ठहरे थे उसके पास ही अर्थात् वनकी पहली मंजिलमें ही ठहरेंगे। यह भी वनवास ही हुआ; क्योंकि श्रीरामजीका यह निवास भी वनवासका प्रथम दिन गिना गया है। नन्दिग्राम तमसा-तीरके निवास-स्थानसे लगभग कोशभर है।

नोट—३ वाल्मीकीयसे मिलान कीजिये। वे लिखते हैं कि वल्कल और जटा धारण करके मुनिवेष बनाकर भरतजी सैन्य-सहित नन्दिग्राममें रहने लगे। पादुकाओंपर स्वयं छत्र लगाया, व्यजन आदि धारण किया, जैसे रामराज्यपर श्रीरामजीके छत्र, व्यजन, चँवर आदि धारण किया गया। राज्य-शासन-सम्बन्धी कार्योंको वे पादुकासे निवेदन किया करते, पादुकाका अभिषेक करके आप उनके अधीन ही सदा राज्य-कार्य करते थे। जो भी कार्य होता था, जो कुछ उपहार आता यह सब पादुकाओंको प्रथम निवेदन कर देते। यथा—'**स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः। नन्दिग्रामेऽवसद्धीरः ससैन्यो भरतस्तदा॥ सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम्। भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन्॥ ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके। तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा॥ तदा हि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम्। स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद् भरतो यथावत्॥**' (वाल्मी० ११५। २३, २५—२७)

नोट—४ '*महि खनि कुस साँथरी सँवारी*' इति। 'धर्मधुर-धीर' कहा; उसीका निर्वाह आगेतक किया है। '*सिर भर जाऊँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरम कठोरा॥*' यह भरतजीका वाक्य है अर्थात् जहाँ स्वामीका चरण पड़े वहाँ सेवकका सिर होना चाहिये, चरणरज जिसमें सिरपर रहे, पैरोंके नीचे न पड़े। उसीका यहाँ निर्वाह दिखाया। श्रीरामजी पलंगपर सोवें तब उनसे नीचे हम सोते, जब वे पृथ्वीपर सोते हैं तब हम उसपर कैसे सोवें? अतः दोनों प्रकारसे जमीन खोदकर रहनेसे धर्म सधेगा।

वंदन पाठकजी—महि खोदनेमें तीन भाव···१—स्वामी-सेवक, यथा—'*कहहु न कहाँ चरन कहँ*

माथा॥' २—अन्न जमनेवाली धरा निकालकर रहे, यहाँतक त्याग है। ३—जीते ही महिमें धँस गये, लोकको मुँह न दिखाया।

स० प०—इतना खोदा कि कैसे भी खड़े हों या बैठें हमारा सिर रामचरणसे नीचे ही रहे।

नोट—५ (क) *'कठिन रिषि धरम'* कहकर जनाया कि ऋषियोंके सभी धर्म कठिन हैं; पर ये राजकुमार होकर ऐसे धर्मका पालन करते हैं जो ऋषियोंके लिये भी कठिन हैं। *'सप्रेमा'* अर्थात् इन धर्मोंका पालन मनमें दुःख मानकर नहीं वरन् प्रेमसे करते हैं। जिस धर्ममें प्रेम या श्रद्धा न हो वह निष्फल हो जाता है, *'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'* (७। ९०। ४) (ख) *'मन तन बचन तजे'* से जनाया कि कुछ लोगोंके दिखानेके लिये या लोकाचार-हेतु नहीं त्याग किया, वरन् रामप्रेमके कारण—(पं०)। *'तिन तूरी'*— ६९ (६) देखिये।

अवध राजु सुरराजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनद लजाई॥६॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥७॥
रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी॥८॥
दो०—राम पेम भाजन भरतु बड़े न येहि करतूति।
चातक हंस सराहिअत टेंक बिबेक बिभूति॥३२४॥

शब्दार्थ—'**चंपक**'=चम्पा। मँझोले कदका पेड़ जिसमें हलके पीले रंगके बड़े तीव्र सुगन्धदार फूल होते हैं। यह दो प्रकारका होता है, एक साधारण, दूसरा कटहलिया, जिसके फूलोंमें पके कटहलकी-सी सुगन्ध होती है। यह प्रसिद्ध है कि भौंरे इसके फूलपर नहीं बैठते। '**चंचरीक**'=भौंरा। '**बिलास**'—ऐश्वर्य। '**बमन**'=कै, उल्टी, कै किया हुआ पदार्थ। '**बिभूति**'=अलौकिक शक्ति।

अर्थ—देवराज इन्द्र भी जिस अवधराज्यको ललचाते हैं। तथा दशरथजीकी सम्पत्तिको सुनकर कुबेर भी लज्जित होते हैं॥६॥ उसी नगरमें भी श्रीभरतजी ममत्वरहित होकर बस रहे हैं, जैसे भौंरा चम्पाके बागमें (नित्य ही, अनासक्त होकर रहता है)॥७॥ श्रीरामजीके प्रेमी बड़भागी लोग लक्ष्मीके विलासको वमनके समान त्याग देते हैं॥८॥ श्रीभरतजी तो स्वयं श्रीरामजीके प्रेमके पात्र हैं। कुछ इस करनीसे वे बड़े नहीं हुए (अर्थात् इसमें उनकी कोई बड़ाई नहीं, कोई आश्चर्यकी बात नहीं, ऐसा उनमें होना स्वाभाविक चाहिये ही)। चातकके टेक और हंसके विवेककी अलौकिक शक्ति क्योंकर सराहनीय है। (अर्थात् नहीं, वह तो उनका स्वभाव ही है। जो दूसरेमें वैसा टेक या विवेक हो तो उसकी अवश्य ही सराहना होगी)॥३२४॥*

'चंचरीक जिमि चंपक बागा' 'रमा बिलास······बमन जिमि' इति।

यहाँ दो दृष्टान्त दिये गये। लोग दूसरे दृष्टान्तसे कुछ हक्का-बक्का-से रह जाते हैं। वे सोचते हैं कि 'रमा' भगवान् विष्णुकी शक्ति हैं। उनका नाम यहाँ देकर उनके विलासको वमनसे उपमा दिया जाना उचित नहीं। इसपर कुछ महानुभावोंके भाव नीचे दिये जाते हैं—

१ पु० रा० कु०—जिस सम्पदासे रामका सम्बन्ध है उसका त्याग वमनकी नाईं कहना उचित नहीं जान पड़ता। *'संपति सब रघुपतिकै आही।'* (१८६। ३) यह स्वयं भरतजीका वचनामृत है, इसीलिये पूज्य कविने श्रीभरतके त्यागमें 'चंचरीक' और 'चंपकबाग' का दृष्टान्त दिया। अवधराजका ऐश्वर्य परम सुगन्धित चम्पाके बागके समान है। जैसे भौंरा चम्पापर नहीं बैठता, उसके रसको नहीं लेता, वैसे ही अवध ऐसे विभूति-परिपूर्ण-नगरमें रहते हुए भी श्रीभरतजी उससे विमुख रहते हैं। यहाँ कहा *'बसत भरत बिनु रागा'* और दूसरा दृष्टान्त अन्य रामानुरागियोंके अन्य सम्पदाके त्यागके सम्बन्धसे दिया गया। अन्य सम्पदा अन्य रामानुरागी वमनकी तरह त्याग देते हैं।

* अर्थान्तर—(१) पपीहा और हंसकी प्रशंसा उनके टेक और विवेकसे ही होती है। (दीनजी) (२) टेक, विवेककी महिमासे चातक और हंस भी सराहे जाते हैं। (पं०) (३) टेकसे चातककी और नीर-क्षीर-विवेककी विभूति (शक्ति) से हंसकी भी सराहना होती है। (मानसांक)

२ खर्रा—यहाँ दो दृष्टान्त देकर भीतर-बाहर दोनों प्रकारसे त्याग दिखाया। *'बसत बिनु रागा'* में भीतर (अन्तःकरण) से त्याग जनाया और *'तजत बमन जिमि'* से बाहरसे (बाह्य) त्याग जनाया।

३ शीला—(क) अवधराज सम्पत्तिको उत्तम पदार्थ 'चम्पकबाग' कहा और अपर रमाविलासको अनुत्तम कहा। क्योंकि अवधराज *'संपति सब रघुपति कै आही'*। स्वामीकी सम्पत्तिका भोग करना सेवक-धर्मके विरुद्ध है अतः उसको नहीं भोगते। जब श्रीरामजी इसे भोग करेंगे तब श्रीभरतजी इसे प्रसादरूपसे ग्रहण करेंगे। दास बिना भोग लगाये नहीं पाते। अभी श्रीरामजी कन्द-मूल-फल भोजन करते हैं, अतः श्रीभरतजी भी उसीको ग्रहण किये हुए हैं। (ख)—पुनः, रमाविलासका वमन कहा। क्योंकि जैसे कोई रामानुरागी वैराग्य पाकर रमाविलासका त्यागकर, ईश्वरप्राप्ति-हेतु वनमें वास करें तो अविद्या माया विघ्नके लिये विभूति बढ़ाती है। यथा—*'बिघ्न अनेक करइ तब माया॥ रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥'* (७।११८) पर बड़भागी रामानुरागी, यह विचारकर कि हम इसे प्रथम ही घरमें भोग करके त्यागकर वनमें आये हैं; भोग नहीं करते और जो करते हैं वे वांताशी कहलाते हैं (कुत्ते ही कै की हुई वस्तुको ग्रहण करते हैं। त्यागकर फिर ग्रहण करनेवाले श्वानसदृश हैं)।

४ पं०—(क) *'बसत बिनु रागा'* से भरतके त्यागकी महिमा दिखाते हैं। वनमें बसकर पदार्थोंका मोह छोड़ना सुगम है, पर सम्पदामें रहकर सम्पदासे अलिप्त होना अगम्य है; सो भरत कर रहे हैं। यदि कहो कि भरतने कैसे निर्वाह किया तो उसपर आगे नीति कहते हैं। (ख)—रामप्रेमीको रामके स्वरूपानन्दके आगे यह विषयानन्द अति तुच्छ है। अथवा, लक्ष्मी माता है; माताके भोग पुत्रोंको अति त्याज्य हैं; इसीसे संत इन सुखोंको नहीं भोगते, यथा—*'तुलसी स्त्री रंककी अपनी कहै न कोइ। ठाकुरकी अपनी कहे ताते ख्वारी होइ॥'*

५ प० प० प्र०—विलास शब्दका अर्थ अमरकोशमें स्त्रियोंके हावोंमेंसे एक बताया है—**'स्त्रीणां विलास-विब्बोकविभ्रमा ललितं तथा। हेला लीलेत्यमी हावाः क्रियाः शृङ्गारभावजाः॥'** (१।७।३१) अतः विलास=शृङ्गारभावकी एक क्रिया। **'विलासोऽङ्गविशेषो यः प्रिया सावासनादिषु तत्र च प्रिया समीपगमने यः स्थानासनगमनविलोकितेषु विकारोऽकस्माच्च क्रोधस्मितचमत्कारमुखविक्लवनं स विलासः।'**—भाव कि लक्ष्मीरूपी स्त्रीके प्राप्तिके प्रयत्न वमनवत् त्याग दिये और शृङ्गाररसके भोगोंका भी वमनवत् त्याग ही किया। 'विलास' का अर्थ सम्पत्ति या ऐश्वर्य कोषोंमें नहीं है।

['विलास' का अर्थ टीकाकारोंने यह किया है—(१) लक्ष्मीके भोग; विषयानन्द (पं०)। (२) लक्ष्मीसम्बन्धी भोगविलास वा भोग। (वीर, नं० प०) (३) राजश्री आदि लौकिक ऐश्वर्य (वै०)। (४) भोगैश्वर्य। (मानसांक) श० सा० में 'सुखभोग', 'संयोगके समयमें अनेक हावभाव अथवा प्रेमसूचक क्रियाएँ' इत्यादि अर्थ दिये हैं]

६ किसीका मत है कि 'चम्पावृक्ष कामदेवकी गद्दी है और भँवर कामका सेवक है, अतः सेवक स्वामीकी गद्दीपर कैसे विराजे? वैसे ही अवध श्रीरामकी गद्दी है, भरत उसको नहीं भोग करते।' और भी ऐसे अनेक कारण चम्पाके पास भँवरके न जानेके कहते हैं पर वह सब पाण्डित्य है, कल्पनामात्र है। उनसे यहाँ प्रयोजन नहीं, अतः वे भाव यहाँ नहीं दिये जाते।

नोट—ऐश्वर्यको रमाविलास कहा; क्योंकि लक्ष्मीकी कृपाकटाक्षसे सब भोगैश्वर्य होता है, यथा—*'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। तेहि पुर कै सोभा कहत'''।'* (१। २८९) लक्ष्मीको चञ्चल और हरजाई सब कहते हैं, अतः उसके विलासका त्याग किया ही चाहे। पुनः, जैसे बालकाण्डमें कहा कि *'बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही॥'* श्रीसीताजीके आगे रमा तुच्छ वैसे ही श्रीसीता-रामानुरागियोंके लिये रमाविलास घृणाकी वस्तु है। कै करनेपर उसकी ओर देखा नहीं जाता, उसका स्मरणमात्र जीको खराब कर देता है, वैसे ही रामानुरागी सज्जन ऐश्वर्यको त्यागकर मनसे अथवा नेत्रोंसे भी उसकी ओर दृष्टि नहीं करते। देखिये ऊपर अर्धाली—*'अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथधनु सुनि धनदु*

लजाई॥' में दो बातें कही गयी हैं एक तो *'अवधराज'*, दूसरे *'दसरथधन'* उसी विचारसे उनके दो दृष्टान्त दिये गये। 'अवधराज' जिसकी इन्द्र ईर्ष्या करें ऐसे 'पुर' में रहकर भी श्रीभरतजीको उसकी चाह नहीं और जिस धनको देख कुबेर ईर्ष्या करें उसकी ओर ये तन-मनसे दृष्टि भी नहीं करते।' 'रमाविलास' दशरथ-धनकी उपमा है। कविका सम्भाल देखिये। वे 'रामधन' को 'रमा-विलास' नहीं कह रहे हैं। 'रामधन' का त्याग वमनकी तरह कहना उनको भी नहीं रुचा।

'चातक हंस सराहियत टेक बिबेक बिभूति'

१—इसका अर्थ जो ऊपर दिया गया वह मुं० रोशनलालकी टीकामें है और रा० प्र० ने भी दिया है। काकोक्तिसे अर्थ करनेसे पूर्वार्द्ध सङ्गत हो जाती है, नहीं तो अर्थ ठीक नहीं बैठता।—'उनके प्रेमकी करतूति क्योंकर बड़ी कही जाय, जैसे चातककी टेक और हंसका विवेक क्योंकर सराहिये'— (पाँ०)। रा० प्र० कार कहते हैं कि 'टेकका चातक और विवेकका हंस स्वरूप ही है। सराहा तो वह जाता है जो औरोंकी भली करतूतको करे।'

२ खर्रा—भाव यह है कि भरतजी रामप्रेमपात्र होनेसे ही बड़े हैं और रहेंगे, इस करतूतसे कुछ वे बड़े न होंगे, यह तो उस प्रेमका ही सहज स्वभाव है।(नोट—चातककी टेक और हंसका विवेक पूर्व लिखे जा चुके हैं। यहाँ काव्यार्थापत्ति और यथासंख्य अलंकार हैं)।

३ दीनजी—इस कर्त्तव्यसे भरतका कोई बड़प्पन नहीं है; क्योंकि पपीहा और हंसकी प्रशंसा उनके टेक और विवेकसे ही होती है। अर्थात् यदि चातक स्वातिबुंदकी टेक और हंस क्षीरनीर विवरण न करे तो न तो उनकी सराहना होगी और न वे चातक और हंस कहलायेंगे। इसी प्रकार भरतका ऐसा करना स्वभावसिद्ध है।

४ श्रीबैजनाथजी—बड़भागी रामानुरागी रमाविलासका वमनके समान त्याग करते हैं, यह तो लौकिक रामानुरागियोंकी बात है और श्रीभरतजी तो (श्रीरामजीके) एक अंश हैं और श्रीरामप्रेमके पात्र हैं, उनका ऐश्वर्य-त्याग करना कोई बड़प्पनकी करतूत नहीं है; क्योंकि यह तो उनका साधारण धर्म है। तब प्रशंसा करनेका क्या हेतु है? उत्तर यह है कि यह भी रीति है कि जिसमें जो साधारण भी धर्म होता है उसकी सराहना की जाती है। जैसे चातककी एक स्वातिबुंदकी टेक और हंसकी क्षीर-नीर-विवरण-विवेक-विभूति सराही जाती है वैसे ही साधारण धर्म विषय-वैराग्यकी सराहना भरतजीकी की जाती है।

५ वि० त्रि०—जब रामानुरागी रमाविलासको वमनकी भाँति त्याग देते हैं तो समृद्ध राज्यमें उन भरतजीका चम्पक बागमें चञ्चरीककी भाँति रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, जिनके अनुरागी स्वयं रामचन्द्र हैं, तथा—*'जग जप राम राम जप जेही।'* टेक और विवेकके लिये भी भरत ऐसेकी सराहना नहीं है, इसके लिये तो चातक-हंसकी सराहना करनी चाहिये कि पक्षी होनेपर भी इनमें टेक और विवेककी विभूति पायी जाती है।

देह दिनहु दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बल मुख छबि सोई॥ १॥
नित नव रामपेम पनु पीना। बढ़त धरम दलु मन न मलीना॥ २॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे॥ ३॥
सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हियँ बिमल अकासा॥ ४॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी। स्वामि सुरति सुरबीथि बिकासी॥ ५॥
रामपेम-बिधु अचल अदोषा। सहित समाज सोह नित चोखा॥ ६॥

शब्दार्थ—**पीन**=मोटा, पुष्ट। **निघटता**=घटता है। [यह फर्रुखाबादकी बोली है—(दीनजी)]। घट धातुके अर्थ हैं—(१) करना, यत्न करना। (२) संयुक्त करना, मिलाना, जोड़ना, जुटना। (३) हिंसा करना, मार डालना। (४) चमकना। उपसर्गोंके लगानेसे अर्थमें बहुत फेरफार हो जाता है। **निघट**=कम होना।

घटइ=चमकइ, बिकसइ।=चमकता है, बढ़ता है। प्रकाश=विकास। **बेतस**=आकाश।=बेंत। **सुरति**=स्मरण, तैलधारावत्, स्मरण, स्मृति। **सुरबीथी**=नक्षत्रोंका मार्ग। आकाशगङ्गा—(दीनजी)। बहुत-से तारे मिले हुए आकाशमें दूधिया रास्ता-सा बनाये दीखते हैं वही सुरबीथी है। ध्रुवसे लेकर मूल नक्षत्रतक उत्तर-दक्षिणमें सुरबीथी है। **चोखा**=सुन्दर और पूर्ण।

अर्थ—श्रीभरतजीका शरीर दिन-दिन दुबला होता जाता है, अन्न, घृत आदिसे उत्पन्न होनेवाला मेद अर्थात् तेज घट रहा है और बल एवं मुखकी कान्ति वैसी ही बनी है॥ १॥ रामप्रेमका प्रण नित्य नया और पुष्ट होता है। धर्मका दल नित्य नया बढ़ता गया, मन मलिन नहीं होता अर्थात् स्वच्छ है॥ २॥ जैसे शरद-ऋतुके प्रकाशसे जल घटता है, आकाश वा बेंत शोभित होता है और कमल खिलते हैं॥ ३॥ शम, दम, संयम, नियम, उपवास भरतजीके हृदयरूपी निर्मल आकाशके तारागण या नक्षत्र हैं॥ ४॥ विश्वास ध्रुव नक्षत्र है, अवधि पूर्णिमा है। स्वामीकी सुरति सुरबीथी-सरीखी सुशोभित है॥ ५॥ श्रीरामप्रेमरूपी अचल और दोषरहित चन्द्रमा समाजसहित नित्य पूर्ण और सुन्दर सोह रहा है॥ ६॥

पु० रा० कु०—***'घटइ तेजु बल मुख छबि सोई'*** इति। गीतावलीमें भी ऐसा ही है। परंतु यह विरुद्ध है कि तपसे तेज घटे, तपसे तो तेज बढ़ता है। यथा—***'बिनु तप तेज कि कर बिसतारा।'*** (७।९०।५) और भरतजीका बल हनुमान्‌जी भली प्रकार जानते हैं, यथा—***'चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवउँ तोहि जहँ कृपा निकेता॥'*** (६।५९) तो फिर तेज और बलका घटना कैसे कहा जा सकता है? दूसरा विरोध यह होता है कि आगे ***'बिलसत बेतस…'*** यह दृष्टान्त तेज बढ़नेका दिया है तब यहाँ 'घटइ' कैसा?

२—राजापुरकी पोथीमें यही पाठ है। अर्थमें उलझन पड़नेसे ही चाहे विद्वानोंने 'घट न' पाठ कर दिया हो। चाहे पूज्य कविने ही पीछे बदल दिया हो। पर गीतावलीमें यही पाठ होनेसे कविका सोच-समझकर ही यह पाठ देना निश्चित होता है। या यहाँ 'घटना' अर्थ नहीं है। घटना क्रियाके और भी प्रयोग आये हैं, यथा—***'सो सब भाँति घटिहि सेवकाई।'*** (२५८।५) ***'सब बिधि घटब काज मैं तोरे'*** (कि० ७) इसी प्रकार यहाँ भी ***'घटइ'*** का अर्थ संयुक्त होना अभिप्रेत होगा। ऐसा अर्थ हो सकता है कि 'देह दिन-दिन दुबली होती है, यही घटती है और सब तेज बल एवं मुखकी छबि वही है' पर गीतावलीमें 'घटत' 'तेज' के पहले है, जिससे 'घटइ' तेजकी ही क्रिया सिद्ध होती है। अतः जो शब्दार्थमें 'घट' धातुके अर्थ लिखते हैं उसीके अनुसार यहाँ अर्थ है।*

३ रा० प्र० ने यों अर्थ किया है—'मुखकी छबि वैसी ही है और तेजबल क्या घटता है अर्थात् नहीं। अर्थात् वे काकोक्ति मानकर विपरीत अर्थ निकालते हैं। 'घट न' में तो अर्थ स्पष्ट ही है।

४ श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजी लिखते हैं कि संस्कृतकोषमें 'तेज' का अर्थ (अन्न, घृत आदिसे उत्पन्न होनेवाला) भेद मिलता है। यह अर्थ लेनेसे 'घटइ' के अर्थमें भी किसी प्रकारकी खींचतान नहीं करनी पड़ती।—(यह अर्थ ग्रहणयोग्य है)।

नोट—१ ***'बढ़त धरम दलु'*** इति। धर्मकी सेना, यथा—***'जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥ जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ दान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥'*** (४।४९)—ये सब धर्म-दल हैं। (प० प० प्र०) ***'मन न मलीना'*** से जनाया कि धर्म करनेमें श्रद्धा और उत्साह नित्य नवीन बना रहता है। साथ ही धर्मका यह फल भी है।

नोट—२ ***'जिमि जलु निघटत…'*** इति। शरद्-ऋतुमें जल घटता है और निर्मल हो जाता है। यथा—***'सरिता सर निर्मल जल सोहा।', 'रस रस सूख सरित सर पानी'*** (४।१६।४-५)। वैसे ही श्रीरामभक्ति प्रकाशसे भरतजीकी देह दुबली होती है पर तेज बढ़ता है। वहाँ आकाश निर्मल और कमल प्रफुल्लित, यहाँ हृदय अमल और मन प्रफुल्लित। (वै०)

* इसपर गौड़जीका टिप्पण देखिये जो पृष्ठ ११५४ में है।

नोट—३ ☞ यहाँ अधिक अभेद साङ्गरूपक है। ऊपर दिये हुए अर्थके अनुसार यहाँ श्रीभरतहृदयका निर्मल आकाशसे रूपक बाँधा गया है। यहाँ हृदय और शरद्का निर्मल आकाश, शम, दम आदि और नक्षत्र (दोनों सत्ताईस-सत्ताईस), श्रीरामजी और श्रीरामजीके वचनमें अटल विश्वास (कि वे अवधि बीतनेपर अवश्य आयेंगे) और ध्रुव *(अविचल कबहुँ न टलै)*, (प्रभुके आगमनकी) अवधि और राका रजनी [जैसे प्रभुके आगमनकी अवधि १४ वर्ष बाद है वैसे ही यहाँ चतुर्दशीके बाद पूर्णिमा है। वै०], स्वामीकी सुरति और सुरबीथी (जैसे आकाशमें ध्रुव नक्षत्रसे लेकर दशात्मक मूल नक्षत्रपर्यन्त शिशुमार चक्र सुरबीथी है वैसे ही श्रीभरतजीके हृदयमें अटल विश्वाससे दशमुख-वधतक जो स्वामीमें सुरति लगी रही वही सुरबीथीका विकास है। जैसे सुरबीथीके चौदह स्थानोंमें अश्विनी आदि दो-दो नक्षत्र हैं, वैसे ही यहाँ चौदह वर्षमें उत्तरायण और दक्षिणायन दो-दो होते हैं। (बै०), जैसे मूल नक्षत्र दशतारात्मक वैसे ही श्रीरामजी दसों दिशाओंमें व्यापक। (रा० प० प०) श्रीरामप्रेम और अचल दोषरहित पूर्णचन्द्र, परस्पर उपमेय-उपमान हैं।

नोट—४ *'सम दम संजम'''* इति। **'अहिंसासत्यमस्तेयमसंगो ह्रीरसंचयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम्॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।''''''॥ शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः।'''**(भा० ११। १९। ३३—३६)—श्रीमद्भागवतमें श्रीउद्धवजीके पूछनेपर बताया है कि अहिंसा, सत्यभाषण, मनसे भी परायी वस्तुके हरण करनेका विचार न करना, अनासक्ति, निन्द्य कर्मोंसे लज्जित होना, संग्रह न करना, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और निर्भीकता ये बारह यम हैं। शौच (अन्त:करण और शरीरकी पवित्रता), जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि-सत्कार, मेरा पूजन, तीर्थयात्रा, परोपकार, संतोष और आचार्यकी सेवा—ये बारह नियम हैं। बुद्धिकी मुझमें निष्ठा होना शम है और इन्द्रियोंको संयममें रखना, उनको जीतना दम है। इस तरह १२ संयम, १२ नियम शम, दम और उपवास मिलकर २७ हुए और नक्षत्र भी २७ हैं। अत: इन शम-दम आदिको नक्षत्र कहा। (पु० रा० कु०)। योगसूत्रमें पाँच ही नियम और पाँच ही संयम माने हैं और कहीं-कहीं इनकी संख्या दस-दस मानी गयी है—बाल० ३६ (७) *'सम जम नियम फूल-फल ग्याना'* में देखिये।

नोट—५ *'ध्रुव बिस्वासु''''*'। (क) ध्रुवको विश्वास कहा, क्योंकि ध्रुव अटल है, अपनी जगहसे नहीं हटता। अन्य तारे घूमा करते हैं पर यह स्थिर रहता है; वैसे ही भरतजीका श्रीरामजीमें विश्वास अटल है। *'अवधि राका सी'* के भाव नोट ३ में आ चुके। (ख) *'स्वामि सुरति'''* इति। 'सुरति'=सहजावृत्तिसे निरन्तर स्मरण, यथा—*'अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती', 'रसखान गोविंदहिं यो भजिए जस नागरिको चित गागरिमें', 'सुरति सँभारे आठो पहर हुजूर।'* श्रीरामजी उत्तरसे दक्षिणकी ओर गये और लंकातक बराबर दक्षिण है। इसी प्रकार आकाशमें ध्रुवसे लेकर मूलनक्षत्रतक जो सुरबीथी है वह भी उत्तरसे दक्षिणको गयी है। श्रीभरतकी सुरति श्रीराममें (अयोध्यासे लेकर लंकातक सबके मूल श्रीरामपर्यन्त बराबर) लगातार लगी है; इसीसे 'सुरति' को 'सुरबीथी' कहा।

श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि आकाशमण्डलमें नौ वीथियाँ हैं, जिनमें ग्रहगण विचरण करते हैं। एक-एक वीथीमें तीन नक्षत्र पड़ते हैं। जैसे नागवीथीमें अश्विनी, भरणी और कृत्तिका। इसी भाँति (१) नागवीथी (२) गजवीथी (३) ऐरावतवीथी (४) आर्षभीवीथी (५) गोवीथी (६) जरद्गववीथी (७) अजवीथी (८) मृगवीथी और (९) वैश्वानरी वीथी। इन्हीं सुरवीथियोंकी उपमा *'स्वामि सुरति'* से दी गयी है। मालूम होता है कि जिन नौ गुणोंसे गुरुजीने सरकारको याद किया है, उन्हींकी सुरति भरतलाल बराबर किया करते हैं। एवं रामप्रेम-विधु स्वामि-सुरतिरूपी वीथियोंमें चक्कर काटा करता है। गुरुजीने कहा था—(१) *धरम धुरीन* (२) *भानुकुलभानू। राजाराम* (३) *स्वबस* (४) *भगवानू* (५) *सत्यसन्ध* (६) *पालक श्रुति सेतू* (७)*राम जनमु जग मंगलहेतू* (८) *'गुर पितु मातु बचन अनुसारी'* (९) *'खल दल दलन देव हितकारी।'*

नोट—६ *'रामपेम-बिधु'''* इति। (क) श्रीरामप्रेम अचल और निर्दोष चन्द्रमा है। अदोषका भाव कई बार आया है—२०९ (१) देखिये। अचल अर्थात् इनका राममें प्रेम एकरस अटल है। आज है कल नहीं, सो बात नहीं, निरन्तर एकरस है। यह नित्य चोखा रहता है, अधिक शोभायमान रहता है और चन्द्रमाकी शोभा पूर्णिमाके पश्चात् जाती रहती है। 'चोखा' कहकर जनाया कि यह निरन्तर पूर्णकला (युक्त) बना रहता है। (गौड़जी) (ख) *'सहित समाज'* इति। रोहिणी, बुध और तारागण चन्द्रमाका समाज है। *'ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥'* (१।१५।९) देखिये। यहाँ श्रीसीताजी, श्रीलक्ष्मणजी तथा श्रीरामजीके प्रेमी निषादराज आदिके प्रेमसहित श्रीरामप्रेम शोभित है।

गौड़जी—अन्वय—*'देह दिनहिं दिन दूबरि होई। घटइ तेजु घटइ बल (अरु) मुख छबि सोई (रहइ)। नित नव राम प्रेमपनु पीन (होई) बढ़त (है)। धरम दल और मन मलीन न (होई)।* **जिमि सरद प्रकाशसे जल निघटत (है) (अरु) स-पनज बिकासे बेत बिलसत (है)।'** [बेतस आकाशके लिये नहीं आता। वियत्=आकाश यहाँ आकाश अप्रयोजनीय है।] २—देह दिनों-दिन दुबली होकर घटती जाती है। तेजका विकास होता है। बल और मुखछवि ज्यों-की-त्यों है। रामका प्रेमपन नित्य नया और मोटा होकर बढ़ता जाता है। धर्मका पक्ष और मन मलीन नहीं होता, जैसे शरद्के प्रकाशसे जल घट जाता है और जलके घटनेपर खिले हुए कमलके साथ दुबला जलबेंत शोभा देता है। भाव यह कि जल भरा था तब जल-बेंत और मृणाल नहीं देख पड़ते थे। तपस्याने शरीरको उसी तरह सुखा दिया जैसे शरद्-ऋतु जलको सुखा देती है। अब मुख तो कमल-सा खिला दीखता है पर शरीर जल-बेंत-सा दुबला है, पर कमलके साथ शोभायमान है।

३—अब एक और रूपक देते हैं। इस रूपकका भाव यह कि भरतजीके हृदयमें शम-दम-संयम-नियम-उपवास, दृढ़ विश्वास कि अवधि बीतनेपर प्रभु आवेंगे, प्रभुका सतत स्मरण और सबसे अधिक प्रकाशित निरन्तर पूर्ण रामप्रेम विराज रहा है।

उपमेय	उपमान
(१) शरीरका सूखना	(१) जलका घटना
(२) (विवक्षित) तपस्याका प्रकाश	(२) शरद्का प्रकाश
(३) तेजका विकास, बल और मुख छबिका बना रहना, प्रेमपन, धर्म दल, मनका उत्कर्ष	(३) कमलोंका खिला रहना, उनके आकारका और रहना, पँखड़ियोंका (दलका) बढ़ना और रंगका चोखा पड़ना।
(४) शरीर दुबला हो घटता है। परंतु तेज बल छबिसे शोभित है।	(४) बेंत जलसे बाहर हो कमलके साथ शोभा दे रहा है।

यहाँ 'बेतस' का अर्थ आकाश करना ठीक नहीं है। एक तो आकाश इसका पर्याय नहीं है, दूसरे यहाँ आकाश अर्थ करनेका प्रयोजन भी नहीं है। आगे आनेवाले रूपकमें जरूर भरतजीके हृदयको आकाश बाँधा है। वहाँ शरद्ऋतुका भी कोई प्रयोजन नहीं है। यहाँ भरतजीका बाहरी रूप और भीतरी भावोंका उसपर प्रभाव दिखाया है। आगे चलकर आकाशके रूपकमें उनके हृदयकी आन्तरिक दशा दिखायी है। इस तरह भरतजीके भीतरी, बाहरी दोनों रूपोंका वर्णन किया गया है।

भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ ७॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीकी रहनि, समुझनि, करनी, भक्ति, वैराग्य, निर्मल गुण और ऐश्वर्यको वर्णन करनेमें सभी उत्तम कवि सकुचते हैं क्योंकि शेष, गणेश और सरस्वतीका भी गम्य नहीं अर्थात् उनको ही अगम है, तब औरोंकी चर्चा ही क्या?॥ ७-८॥

नोट—१ *'भरत रहनि समुझनि करतूती,'* इति (क) *'रहनि'* गीतावलीमें विस्तृतरूपसे वर्णित है यथा—*'मोहिं भावति कहि आवति नहिं भरत जू की रहनि। सजल नयन सिथिल बयन प्रभु गुनगन कहनि॥*

असन बसन अयन सयन धरम गरुअ गहनि। दिन दिन प्रेम नेम निरुपधि निरबहनि॥ सीता रघुनाथ लषन बिरह पीरसहनि। तुलसी तजि उभय लोक राम चरन चहनि॥' (२। ८१) कुशसाँथरी, भूमि खोदकर गुफा बनाकर रहना इत्यादि रहनि है। (ख) *'समुझनि'* यथा—*'साधन सिद्धि रामपग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥'* (२८९। ८) पुनः, प्रभुके स्वरूपका समझना, 'पाँवड़ी' में प्रभुका ही भाव रखना, प्रभुको वनमें समझ स्वयं नगरसे बाहर उसी प्रकार रहना, इत्यादि *'आयसु होइ त रहउँ सनेमा'* यह सब समुझनि है। (ग) *'करतूति'* तो सब आचरण ही है, यथा—*'राम प्रेम भाजन भरत बड़े न एहि करतूति॥'* (३२४) भक्ति, यथा—*'नित नव राम प्रेम पनु पीना।'* इत्यादि। *'बिरति'* यथा—*'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा' 'मन तन बचन तजे तिन तूरी'* इत्यादि। गुण—शील-विनय आदि गुण हैं, यथा—*'भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बर बिनय निहोरे॥ ऊँच नीच कारज भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू॥'* इत्यादि सब गुण हैं। गुण-यश-चरित पर्याय हैं। 'विभूति' यथा—*'राम प्रेम भाजन भरत बड़े न एहि करतूति। चातक हंस सराहियत टेक बिबेक बिभूति॥'* (३२४)

गौड़जी—*'बिमल बिभूती'*—विभूतियाँ अणिमादि सिद्धियाँ हैं। ये विमल नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि यह विश्वसे राग उत्पन्न करनेवाली हैं। श्रीभरतकी विभूतियाँ विमल हैं, वैसी ही हैं जैसी भगवान् शंकरकी, जो भगवद्भक्ति और वैराग्यके गुणोंसे संवलित हैं।

दो०—नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति।
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहु भाँति॥३२५॥

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥१॥
लषन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥२॥
दोउ दिसि समुझि कहत सबु लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू॥३॥
सुनि ब्रत नेमु साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥४॥

शब्दार्थ—'**कसहीं**=कसते हैं, कष्ट देते हैं, तपस्या करते हैं।

अर्थ—(श्रीभरतजी) नित्य प्रति प्रभुकी चरणपादुकाओंका पूजन करते हैं, हृदयमें प्रीति नहीं समाती। पादुकाजीसे आज्ञा माँग-माँगकर बहुत तरहसे राज्यका काम करते हैं॥३२५॥ शरीरमें पुलक (रोमाञ्च) है, हृदयमें श्रीसीतारामजी (विराजमान) हैं; जिह्वासे नाम जपते हैं, नेत्रोंमें जल भरा है॥१॥ श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीतारामजी वनमें बसते हैं और श्रीभरतजी घरमें रहकर शरीरको कष्ट देते हैं॥२॥ दोनों ओरकी दशा समझकर सब लोग कहते हैं कि श्रीभरतजी सब प्रकार सराहने योग्य हैं॥३॥ उनके नेम और व्रतको सुनकर साधु सकुचाते हैं और उनकी दशा देखकर मुनीश्वर (बड़े-बड़े श्रेष्ठ मुनि) लज्जित होते हैं॥४॥

नोट—१ (क) *'नित पूजत प्रभु पाँवरी''''*' से दिखाया कि 'पाँवड़ी' की पूजा वैसे ही करते हैं जैसे भगवान्की करनी चाहिये। पूजा प्रेमसे करनी चाहिये सो यहाँ *'प्रीति न हृदय समाति।'* इससे श्रद्धा और विश्वास सूचित होता है *'नित पूजत'* से स्पष्ट है कि नन्दिग्राममें ही पाँवड़ी पधरायी थीं। (ख) मिलान कीजिये—'''''**नन्दिग्रामं ययौ स्वयम्। तत्र सिंहासने नित्यं पादुके स्थाप्य भक्तितः॥ पूजयित्वा यथा रामं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः। राजोपचारैरखिलैः प्रत्यहं नियतव्रतः॥**' (अ० रा० २। ९। ७१-७२) अर्थात् श्रीभरतजी स्वयं तो नन्दिग्रामको चले गये। वहाँ एक सिंहासनपर उन दोनों पादुकाओंको रखकर वे श्रीरामचन्द्रजीके समान ही उनकी नित्य प्रति भक्तिपूर्वक गन्ध, पुष्प और अक्षतादि सम्पूर्ण राजोचित सामग्रीसे पूजा करने लगे।—श्लोकका '**भक्तितः**' ही '**प्रीति न हृदय समाति**' है। शेष श्लोक ७२ *'नित पूजत प्रभु पाँवरी'* का भाव है। पूर्व लिखा जा चुका है कि पादुकाओंको पधराकर वे छत्र, चवँर धारण करते थे—यह भी पूजनका अङ्ग ही है। (ग) *'मागि मागि'* से जनाया कि जैसे प्रभु चिद्रूप वैसे ही उनके वस्त्र, भूषण

आदि सब चिद्रूप होते हैं। यथा—'**भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन्।**' (वाल्मी० २।११५।२२), '**तदा हि यत्कार्यमुपैति किंचिदुपायनं चोपहृतं महार्हम्। स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य चकार पश्चाद्भरतो यथावत्॥**' (२४) अर्थात् श्रीभरतजी राज्यका समस्त शासनसम्बन्धी कार्य पादुकाको निवेदित कर देते थे। जो कोई कार्य उपस्थित होता, जो कुछ भेंट आती वह सब प्रथम पादुकाको निवेदित करते थे, फिर उसका यथोचित प्रबन्ध कर देते थे।

नोट—२ ☞ '*पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू*…' इति। (क) भजन-स्मरणकी रीति दिखाते हैं। नामका जप जिह्वासे हो, मन प्रभुमें लगा हो, प्रेमसे स्मरण हो, बेगार टालना नहीं, प्रेमसे गद्‌गद कण्ठ, पुलकित शरीर और नेत्र अश्रुपूर्ण हों, मनको विषयोंसे विरक्त रखे। यह उपदेश है। (ख) मन, वचन, कर्म तीनोंसे श्रीभरतजीका प्रेम दिखाया। '*नित पूजत*' कर्म है, '*प्रीति न हृदय समाति*' मन और '*मागि मागि आयसु*' वचन है।

नोट—२ '*भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं*' का भाव कि हमारे स्वामी उदासी वेषसे वनमें रहकर कष्ट सह रहे हैं तब हमको यह उचित नहीं कि हम भोग-विलास करें। वनमें रह नहीं सकते क्योंकि स्वामीकी आज्ञा अवधमें रहकर प्रजाके पालन करनेकी है; इससे अवधमें ही रहकर वनके-से कष्ट उठाते हैं, तपस्वियोंकी तरह रहते हैं।

नोट—३ '*दोउ दिसि समुझि*' इति। (क) पु० रा० कु०—'*लषन राम सिय कानन बसहीं*' और '*भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं*' ये ही 'दो दिसि' हैं अर्थात् उधर श्रीसीतारामलक्ष्मणकी रहनी-करनी और इधर श्रीभरतजीकी रहनी-करनी, इन दोनोंको समझ-विचारकर लोग प्रशंसा करते हैं। सब लोग कहते हैं कि '*सब बिधि भरत सराहन जोगू।*' दोनों ओरकी समझकर भरतकी प्रशंसा करते हैं, रामकी नहीं। क्योंकि वनमें बसकर भोग-विलासका त्याग अधिक प्रशंसाकी बात नहीं है, भोग-विलाससे परिपूर्ण घरमें रहते हुए भी उसका त्याग करना यह बड़ी बात है; अतः कहा कि वे सराहने योग्य हैं। '*सब बिधि*' से जनाया कि श्रीरामलक्ष्मणसीताजी भी सराहने योग्य हैं पर भरत 'सब प्रकारसे' प्रशंसनीय हैं और वे सब प्रकारसे नहीं।

(ख) पं०—'*दोउ दिसि*' यह कि राज्यकार्य राजव्यवहार भी सुन्दर रीतिसे करते हैं और तपोवृत्तिसे प्रभुके प्रेमका भी निर्वाह कर रहे हैं। अथवा पिताका वचन पाला और भाईका भायप भी निबाहा, भाईके वचनको भी पाला। वा, नीतिमें लोकयश और भक्तिसे परलोक इति दोनों तरह। वा, भरतका प्रेम राममें और रामकी कृपा इनपर दोनों प्रकार ये सराहने योग्य हैं।

(ग) वै०—वहाँ श्रीरामजीके साथ श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी सब प्रकारकी सेवा और सुपासके लिये हैं। यहाँ भरत घरमें सब सुपास होते हुए भी उसे मन, कर्म, वचनसे छोड़े हैं। जैसे सोना अग्निमें तपाकर कसा जाता है वैसे ये तपसे देहको कस रहे हैं। रघुनन्दनजीके और इनके दोनों आचरण विचारकर लोग कहते हैं कि ये सब भाँति सराहने योग्य हैं, क्योंकि ये ऐसे दुर्घट नियम धारण किये हुए हैं जिन्हें सुनकर साधु सकुच जाते हैं (देखने और करनेका भी साहस नहीं) और तपादिसहित प्रेमदशा देख मुनिराज लज्जित होते हैं।

नोट—४ '*साधु सकुचाहीं, मुनिराज लजाहीं।*' साधकोंको व्रत, नेम करना होता है जिससे सिद्धि प्राप्त हो सो वे इन कठिन व्रत नेमोंको देखकर सकुचते हैं कि हमसे ये नहीं बन पड़नेके। और मुनीश्वर इनके प्रेम और वैराग्यकी दशा देखकर लज्जित होते हैं कि हमने घर-बार प्रभुके लिये छोड़ा, हमारी प्रभुके प्रेममें ऐसी दशा होनी चाहिये थी सो नहीं है और इनकी घर-बार सँभालते हुए घर रहते हुए यह दशा है, हमारे वैराग्यको धिक्कार है।

मिलान कीजिये—'*अजिन बसन फल असन जटा धरे रहत अवधि चित दीन्हें। प्रभु पद प्रेम नेम ब्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हें॥ सिंहासन पर पूजि पादुका बारहिं बारु जोहारे। प्रभु अनुराग माँगि*

आवसु पुरजन सब काज सँवारे॥ तुलसी ज्यों ज्यों घटत तेज तनु त्यों त्यों प्रीति अधिकाई। भए न हैं न होहिंगे कबहूँ भुवन भरत से भाई।' (२।७९) *'राखी भगति भलाई भली भाँति भरत। स्वारथ परमारथ पथी जय जय जग करत॥ जो ब्रत मुनि बरनि कठिन मानस आचरत। सो ब्रत लिये चातक ज्यों सुनत पाप हरत॥'''* (गी० ८०)

परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद-मंगल-करनू॥ ५॥
हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महामोह निसि दलन दिनेसू॥ ६॥
पापपुंज कुंजर मृगराजू। समन सकल संताप समाजू॥ ७॥
जन रंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारू॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीका परम पवित्र मधुर (सुननेमें) सुन्दर आचरण सुन्दर आनन्द मङ्गलोंका करनेवाला है॥ ५॥ कठिन कलिकालके पापों और क्लेशोंका हरनेवाला है। महामोहरूपी रात्रिको नष्ट करनेके लिये सूर्यरूप है॥ ६॥ पाप-समूहरूपी हाथीके लिये सिंह है। समस्त संतापोंके समाजका नाश करनेवाला है॥ ७॥ भक्तोंको आनन्द देनेवाला है, भवरूपी भारका भञ्जन करनेवाला है और श्रीरामप्रेमरूपी चन्द्रमाका सार (अमृत) है॥ ८॥

नोट—१ *'परम पुनीत''* इति। (क) यहाँ स्वार्थ होना अपावनता है, स्वार्थरहित होना पवित्रता है और परमार्थमय होना परम पवित्रता है। सुननेमें रोचक है, श्रवणसुखद दूषणादि रहित होनेसे 'मधुर' कहा। विचारनेसे कामादि मलरहित है, यही 'मंजुता' उज्ज्वलता है। श्रवणकीर्तनादिसे मुद मंगल करनेवाला है। (वै०) *'मंजु मुद मंगल'—'मंजुल मंगल मोद प्रसूती।'* (१।१।३) देखिये।

नोट—२ *'कलि कलुष कलेसू'* कहा; क्योंकि कलि पापोंकी सीमा है। इससे बढ़कर पाप किसी युगमें नहीं होते। जब कलिके पापोंको दूर करनेको समर्थ है तब और पाप तो प्रतापमात्रसे नष्ट हो जायँगे। पुन: यह ग्रन्थ 'कलिकुटिलजीव निस्तारहित' है, अत: उसीको यहाँ कहा। *'महामोह'*—ईश्वरमें संदेह महामोह है, यथा—*'महामोह उपजा उर तोरें॥'* (७।५९।७) (गरुड़को), *'महामोह निसि सूतत जागू।'* (६।५५।७) (रावणको), इत्यादि। वा, भारी मोह। बैजनाथजी लिखते हैं कि कलिकालजनित संचित और प्रारब्ध कठिन पापरूपी ईंधनके लिये अग्निसमान हैं। और क्रियमाण पाप मोहसे होते हैं। उनके लिये *'महामोह निसि दलन दिनेसू'* कहा।

नोट—३ *'पापपुंज कुंजर''''।'* इति (क) पापसमूह हाथीके समान है। उसके लिये श्रीभरताचरण सिंहके समान है। भाव कि भरतजीके आचरणोंके श्रवणरूपी सिंहगर्जनसे पापसमूह भाग जाते हैं और सामने आ गये तो उनका नाश ही हो जाता है। (वै०) *कुंजर मृगराजू* यथा—*'जिमि करि निकर दलइ मृगराजू।'* (२३०।६) देखिये। पापपुंज अर्थात् मन-कर्म-वचन जनित समस्त पाप।—*जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥'* (१६७।७) देखिये। (ख) *'सकल संताप समाजू।'* ताप तीन प्रकारके हैं। उनकी भी बहुत शाखाएँ हैं अत: *'सकल'* कहा। *'दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥'* (७।२१।१) वही सब यहाँ श्रीभरताचरणका भी फल बताया।

नोट—४ *'जन रंजन'* अर्थात् इनके चरितके श्रवणादिसे भक्तोंको आनन्द मिलेगा। *'भारू'*—भवको भार कहा। बारम्बार मरना-पैदा होना यही भार (बोझा) है जो जीवको अपने कर्मवश ढोना पड़ता है। यथा—*'जाको नाम लिये छूटत भव जनम मरन दुख भार।'* (वि० ९८) इसीसे इसे श्रमरूप कहा है, यथा—*'भवश्रम सोषक तोषक तोषा'*—बा० ४३ (४) देखिये।

☞ यहाँ श्रीभरतजीके आचरणका महत्त्व कहा अर्थात् बताया कि इसके कथन-श्रवणसे क्या फल प्राप्त होंगे। *'भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥ जो किछु कहब थोर सखि सोई।'* (२२३।१-२) यह पूर्व मगवासिनियोंके मुखसे कविने कहलाया था और यहाँ स्वयं विस्तारपूर्वक

कहते हैं—मुद मङ्गल होगा, कलिकलुषक्लेश मिटेंगे, महामोह दूर होगा, पाप-तापसमूह नष्ट होंगे, भवभार उतरेगा, आवागमन छूटेगा और रामप्रेमामृतकी प्राप्ति होगी।

नोट—५ *'राम सनेह सुधाकर सारू'* इति। पु० रा० कु०—(क) रामस्नेह सुधा है, भरताचरण उसका सार है अर्थात् जैसा रामप्रेम इनके आचरणमें है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। पुनः, (ख) रामस्नेह सुधाकर (चन्द्रमा) है, भरताचरण उसका सार है। भाव यह कि प्रेमरूपी चन्द्रमाके उदय करनेवाले ये ही हैं। इसी अर्थकी पुष्टता आगे छन्दमें है।

(२) ऊपर कहा है *'रामपेम-बिधु अचल अदोषा।'''।'* (३२५। ६) उसके अनुसार इनका चरित सुधाकर सारू अर्थात् अमृतरूप है, जो इसे पान करेंगे वे अमर हो जायँगे, उनको अटल भक्ति प्राप्त होगी। दोनों प्रकारसे अर्थ करनेका सारांश एक ही है कि उनका आचरण रामप्रेममय है। रामप्रेमका सार तत्त्व देखना हो तो श्रीभरतजीका आचरण, इनका चरित देखें, बस यही रामप्रेमका निचोड़ शुद्ध अमृत है।

छंद—सियरामप्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

सो०—भरत चरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीयरामपद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥ ३२६॥

(इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलविज्ञानवैराग्यसम्पादनो नाम द्वितीयः सोपानः समाप्तः)*

अर्थ—श्रीसीतारामजीके प्रेमामृतसे परिपूर्ण श्रीभरतजीका यदि जन्म न होता तो मुनियोंके मनको अगम यम, नियम, शम, दम आदि कठिन व्रतोंका आचरण कौन करता ? (कोई नहीं) दुःख, संताप (जलन), दारिद्र्य, दम्भ और दूषणको अपने सुयशके बहाने कौन हरण करता? (कोई नहीं)। और, इस कलिकालमें तुलसी-ऐसे शठोंको कौन हठपूर्वक श्रीरामजीके सम्मुख करता? श्रीतुलसीदासजी कहते हैं आशीर्वाद देते हैं, कि जो कोई श्रीभरतजीके चरित्रको नियमसे आदरपूर्वक सुनेंगे, उनको श्रीसीतारामजीके चरणोंमें प्रेम अवश्य होगा और अवश्य ही संसारके विषयरससे वैराग्य भी होगा॥ ३२६॥

नोट—*'सियरामप्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को'* इति। (क) खर्रेमें इसका अर्थ पं० रामकुमारजीने यों किया है कि 'श्रीसीताराम प्रेमामृत पूर्ण न होता यदि भरतका जन्म न होता।' *'होत जनमु न'* दीपदेहली है, छन्दके सब चरणोंके साथ इसका अन्वय होगा। (ख)—यहाँ भरत पात्र हैं जिसमें प्रेमामृत परिपूर्ण भरा है। (पं०) (ग) श्रीभरद्वाजजीने भरतयशको चन्द्रमा कहकर उसमें रामप्रेमामृतका होना कहा है, यथा—*'नव बिधु बिमल तात जसु तोरा।''''पूरन रामसुपेम-पियूषा॥'* (२०९। १—५) वैसे ही यहाँ कविने भरतजीको रामप्रेमामृतसे परिपूर्ण कहा। इस तरह जनाया कि श्रीभरतजी स्वयं श्रीरामप्रेमामृतसे परिपूर्ण हैं अतः आपके द्वारा और भी पूर्ण होंगे, सबको आपने प्रेमामृत सुलभ कर दिया। यथा—*'रामभगत अब अमिय अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥'* (२०९। ६)

नोट—२ *'मुनि मन'''बिषम ब्रत आचरत को'*—भाव यह कि मुनिके मनमें जिनका आना कठिन है, अर्थात् उनके मनमें कदापि ऐसे कठिन नियमोंका विचार भी नहीं आ सकता फिर भला शरीरसे उन नियमोंका पालन कौन कर सकता है? वह तो अत्यन्त दुर्गम है। इन्होंने कर दिखाया, अतः इनके अवलम्बसे मुनीश्वर ऐसे नियमोंके पालनका साहस कर सकेंगे।

* यह इति प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं है।

नोट—३ *'सुजस मिस अपहरत को'* इति। (क) पं०—भाव कि और राजाओंके यशकथनसे लोगोंको मिथ्यावाद आदिका दोष होता है और भगवद्भक्ति मिश्रित भरतमहिमाके कथन-श्रवणसे सब दोष नष्ट हो जावेंगे। यह सबका उपकार सुयशद्वारा होना कहा। अब कवि अपने ऊपर जो विशेष उपकार हुआ उसे कहते हैं। (ख) *'कलिकाल तुलसीसे….'* इति। श्रीभरतजीने अपने वचनोंमें कहा है कि महापातकी लोगोंका भी उद्धार प्रभुकी शरणमें आने मात्रसे, एक प्रणाममात्रसे हो जाता है, यथा—*'कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥'* (२९९। २-३) श्रीभरतजीका सुयश कहने-सुननेमें यह वचन भी अवश्य कहने-सुनने-समझनेमें आते हैं। इन्हें सुन या पढ़कर मनुष्यको दृढ़ भरोसा, विश्वास और निश्चय हो जाता है कि एक श्रीरघुनाथजी ही शरण्य हैं, उनको छोड़ किसीकी शरण जाना व्यर्थ है। सबको छोड़कर इन्हींकी शरण लेना चाहिये। उसी भरोसे मैं भी शरण आया। और कलिकालके जो भी प्राणी भरत-सुयशको पढ़ें-सुनेंगे वे सभी ही अवश्य (हठात्) प्रभुकी शरण हो जावेंगे।—यही *'हठि सन्मुख'* करनेका भाव है।

(ग) *'कलिकाल'* का भाव कि कलिमें जप, योग, वैराग्य कथनमात्र हैं। इन्हें कोई कर नहीं सकता, प्रभुकी शरण होना यही निबह सकता है। कलिमें प्रपत्तिकी ही प्रधानता दिखायी। इसीको एकमात्र उपाय बताया।

पु० रा० कु०—(क) आधा अयोध्याकाण्ड प्रथम रामचरित है, इससे आदिमें *'बरनउँ रघुबर बिमल जस जो दायक फल चारि'* कहा। उसको चारों फलों (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) का देनेवाला लिखा। और, आधा अयोध्याकाण्ड पीछेका भरतचरित है, इसलिये अन्तमें लिखा कि *'भरत चरित करि नेम….।'* भरतचरित और प्रेमा-भक्ति और वैराग्यका दाता है। श्रीसीतारामपद-प्रेम और बिरति दोनों होंगे, और अवश्य होंगे, इसमें संदेह नहीं। (ख) दोनोंकी प्राप्तिका सहज साधन यहाँ बताया कि—नियमपूर्वक और आदरपूर्वक सुनना चाहिये। *'सुनहिं'* में पाठ, कथन और श्रवण सभीका भाव है। *'सादर'* यह कि मन, बुद्धि और चित्त तीनोंको लगा दे, यथा—*'सुनहु तात मति मन चित लाई।'* (३। १५। १) *'सादर'* शब्द कथन, श्रवण, मनन और विचारपूर्वक समझते हुए सुनना जनाता है; यह नहीं कि एक कानसे सुना दूसरेसे निकाल दिया, या दूसरेने पूछा कि क्या सुना-समझा तो कुछ न कह सके। यही कारण है कि ग्रन्थभरमें वक्ताओंने अपने श्रोताओंसे बराबर 'सादर सुनने' को कहा है, यथा—*'तात सुनहु सादर मन लाई।'* (१। ४७। ५) (याज्ञवल्क्य), *'सादर सुनु गिरिराजकुमारी।'* (१। ११४) *'सादर तात सुनावहु मोही….लाग कहै….प्रथमहि अति अनुराग भवानी।'* (उ० ६४) *'तात सुनहु सादर अति प्रीति। मैं संक्षेप कहउँ….'* (उ० १२१ भुशुण्डिजी) *'कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥'* (१। ३५) (गोस्वामीजी) तथा यहाँ *'जो सादर सुनहिं'*। (ग) पुनः, किसीका मत है कि 'नियमसे सुननेको इसी काण्डको कहा गया क्योंकि यह काण्ड नियमबद्ध रचा गया है।

पं०, रा० प्र०—भाव कि भरतका प्रेम सुनकर प्रेम होगा और उनका ऐश्वर्य-त्याग सुनकर वैराग्य होगा। विषयरस रामप्रेमका नाशक है यह समझमें आ जायगा, उससे वैराग्य हो जायगा।

भरतचरित-रामचरित-माहात्म्य-मिलान

परम पुनीत भरत आचरनू	*१ पावन गंगतरंगमाल से*
मधुर मंजु मुद मंगल करनू	*२ 'तिन्ह जहँ मधुर कथा रघुबर की', 'सुकोमल मंजु दोष रहित', 'जग मंगल गुन ग्राम राम के'*
दहन कठिन कलि कलुष कलेसू	*३ 'कलिकलुष बिभंजनि' 'कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाखंड। 'दहन'*

महामोह निसि दलन दिनेसू	४ *'हरन मोह तम दिनकर कर से'*
पापपुंज कुंजर मृगराजू	५ *काम कोह कलिमल करिगन।* केहरिसावक
समन सकल संताप समाजू	६ *समन पाप संताप सोक के*
जन रंजन	७ *बुध बिश्राम सकल जनरंजनि*
भंजन भव भारू, भरतकथा भवबंध बिमोचनि (२२८)	८ *भव भंजनि भ्रमभेक भुअंगिनि*
रामसनेह-सुधाकर सारू	९ *सोइ बसुधातल सुधातरंगिनि*
दुख दाह दारिद दंभ दूषन अपहरत	१० *कामद घन दारिद दवारि के*
सठन्हि हठि रामसनमुख करत	११ *रघुपति भगति प्रेम परमिति सी*
सीयरामपद प्रेम अवसि होइ	१२ *जननि जनक सियराम प्रेम के। 'होइहहिं रामचरन अनुरागी'*
भरतचरित करि नेम तुलसी जो सादर सुनहिं। अवसि होइ	१३ *जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता होइहहिं....।*
	१४ *'मेटत कठिन कुअंक भालके'; होइहहिं।*
सकल धरम धुर धरनि धरत को	१५ *बिस्वभार भर अचल छमा सी*
मुनि मन अगम यम नियम सम	
दम बिषम ब्रत आचरत को	१६ *बीज सकल ब्रत धरम नेम के*

नोट—४ जैसे श्रीरामजीका नाम, रूप और चरित तीनों मङ्गलकारी हैं वैसे ही श्रीभरतजीके नाम आदिको भी मङ्गलकारी दिखाया गया है।

नाम—*'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नाम तुम्हार॥'* (२६३)(श्रीभरतजी)

'जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥' (श्रीरामजी)

रूप—*'सकल सुमंगल मूल जग भरत चरन अनुरागु'*। (२६५) (श्रीभरतजी)

'मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥' (१।११२।४) (श्रीरामजी)

चरित—*'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मृदु मंगल करनू॥'* (३२६।५) (श्रीभरतजी)

'जगमंगल गुनग्राम रामके' (१।३२) *'मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथकी।'* (१।१०)

नोट—५ इस काण्डमें ग्रन्थकारने इति नहीं लगायी अर्थात् जैसे और काण्डोंके अन्तमें 'इति श्रीरामचरितमानसे' और फलश्रुति है वैसे इसमें नहीं है। कुछ लोगोंने यहाँ भी 'इति' लगा दी है। ला० सीतारामकी छपी हुई प्रतिमें भी इति लगी हुई है, यह न जाने क्यों? इतिका न होना भी साभिप्राय है।—(१) वाल्मीकीयमें अयोध्याकाण्डकी इति अत्रि ऋषिसे विदा होनेके पश्चात् है। वैसे ही पूज्यकवि भी इसकी इति अरण्यकाण्डमें उसी प्रसङ्गपर करेंगे। (२) दूसरे 'इति' न लगाकर भरतचरितको अपार और अपरिमित जनाया इसकी इति नहीं। *'नेति नेति कहि गावहिं बेदा'* जैसा भगवत्-चरितके विषयमें कहा वैसे ही इसकी भी 'इति' नहीं। (३)भरतजीका प्रपत्तिघाट है। कलिकालमें प्रपत्ति मुख्य है। गोस्वामीजीका भी प्रपत्तिघाट है। प्रपत्तिकी इति नहीं।

अयोध्याकाण्डका उपसंहार

स्वामी प्रज्ञानानन्दजी—१ अयोध्याकाण्ड दूसरा सोपान है। इसमेंसे उत्तरार्धकी फलश्रुति छन्द और सोरठामें कही गयी है। श्रीभरतचरितका तथा इस काण्डके श्रीरामचरितका फल कहा कि यम-नियम-शम-दमादि धर्मदलका आचरण करनेकी प्रवृत्ति होगी और इससे वैराग्यकी प्राप्ति होगी।

२ इस काण्डका प्रतिनिधि श्लोक बालकाण्ड मङ्गलाचरणमें *'भवानी-शंकरौ वन्दे....।'* (श्लोक २)

है। प्रथम, विश्वास—अटल विश्वासरूपी शिवजी चाहिये, तत्पश्चात् श्रद्धारूपी आदरकी प्राप्ति होनी चाहिये। श्रीरामजी और श्रीभरतजी दोनोंमें परस्पर पूर्ण अटल विश्वास, परम श्रद्धा तथा अपने-अपने धर्मपर भी अटल विश्वास और श्रद्धा है। *'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई'* इस श्रद्धा-विश्वास नींवपर ही दोनोंने अपने धर्मकी विशाल, अनुपम, रमणीय, प्रलोभनीय इमारत खड़ी की है। इस धर्माचरणके फलस्वरूप दोनोंमें परम त्याग, परम विराग भी अलौकिक प्रकारका देख पड़ता है।—*'धर्म तें बिरति जोग ते ग्याना।'*

३ इस काण्डके मंगलाचरणके 'यस्याङ्के च विभाति—' इस श्लोकमें भी शिवजी और भवानीजीका प्रथम उल्लेख करके विश्वास और श्रद्धारूपी शिव-पार्वतीकी वन्दना की है।

४ इस काण्डमें राजधर्म, पतिधर्म, पत्नीधर्म, पुत्रधर्म, मन्त्रीधर्म, भ्रातृधर्म, प्रजाधर्म, सेवकधर्म, स्वामिधर्म, शिष्यधर्म, गुरुधर्म, सपत्नि-माता-पुत्र-धर्म, यजमान-धर्म (अतिथिसत्कार), कर्म, उपासना, ज्ञान, भक्ति, इन्द्रादि देवोंका स्वभाव, जामातृधर्म, श्वशुरधर्म, स्नुषाश्वश्रूधर्म आदिका मधुर, मृदु, सरल, आलंकारिक निर्दोष भाषामें परमोच्च प्रकारका वर्णन करके नित्य व्यवहारके विविध धर्मोंके परमोच्च निर्दोष आदर्श निर्माण किये हैं। मानसके समान निर्दोष काव्यमें निर्दोष चरित्र-चित्रण अन्य किसी भी ग्रन्थमें न मिलेगा।

५ मानवी मानस शास्त्रके विविध अङ्गोंके उदाहरण ठौर-ठौरपर मिलते हैं।

६ इस काण्डमें करुणारस प्रधान है पर यह भगवत्प्रेम और स्वधर्म निष्ठापर अधिष्ठित है। कैकेयीके चरित्रमें स्वार्थी, राज्यलोभी, मत्सरी इत्यादि प्रकारके व्यक्तिके आदर्शका अध्यारोप करके पश्चात् उनका अपवाद किया है।

७ गुरु शिष्योंके स्वभावकी समानता निषादराज और लक्ष्मणजीके चरित्रोंमें नितान्त स्पृहणीय चित्रित की गयी है।

८ भक्त और भगवान्‌की पूर्ण अभिन्नता श्रीराम-भरत-चरित्रमें भरी हुई है।

९ आध्यात्मिक दृष्टिसे इन चरित्रोंका बीज बालकाण्ड दोहा ३२५ के *'जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं'* में रखा है। उसका उद्‌घाटन वहाँकी टिप्पणीमें देखिये।

भरतचरित एवं भरतरहनि-प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

श्रीभरत-संत-गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।